आचार्य उद्भट और उनके टीकाकारों का संस्कृत काव्यशास्त्र को योगदान

काकोली राय

यूँ तो अलंकार की चर्चा बहुत प्राचीन है परन्तु इसे व्यवस्थित रूप में रखने का प्रयास उद्‌भट ने किया है। इनकी एकमात्र कीर्तिस्तम्भ 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' है। यह भामह की पीठिका से लेकर मम्मट के शिखर तक पहुँचने का सोपान है। छः वर्गों में विवेचित इकतालीस अलंकारों को वस्तुतः उनके ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। इन्होंने कई नवीन अलंकारों की उद्‌भावना की। इसके इतिरिक्त गुण, रस, ध्वनि की चर्चा की है। उद्‌भट के दो टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज जिनकी कृति लघुवृत्ति तथा तिलक की 'विवृत्ति' है। ये टीकाकार विरोधी धारा के हैं। इन टीकाकारों की प्रसिद्धि इतनी अधिक है कि इसका अनुमान इस आधार पर लगा सकते हैं कि इंदुराज ने अभिनवगुप्त को शिक्षा दी तथा तिलक ने रुय्यक को। उद्‌भट अपने युग में इतने प्रतिष्ठित और प्रभावशाली समझे जाते थे कि द्वितीय श्रेणी के काव्यशास्त्री आचार्य इनकी स्थापनाओं को प्रमाण रूप में उद्धृत किया करते थे।

ISBN : 81-87454-081-9 मूल्य : 350.00

डॉ० राम प्रताप जी
को सप्रेम भेंट
रवि
24/5/76

[illegible]

आचार्य उद्भट और उनके टीकाकारों
का
संस्कृत काव्यशास्त्र को योगदान

काकोली राय

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 30919869
e-mail : ebl@vsnl.net

प्रथम संस्करण : 2005

आइ.एस्.बी.एन्. : 81-87454-081-9

मूल्य : 350.00

आचार्य उद्भट और उनके टीकाकारों
का संस्कृत काव्यशास्त्र को योगदान
काकोली राय

टाईप सेटिंग : क्रियेटिव ग्राफिक्स, दिल्ली
मुद्रक : आर० के आफसेट, दिल्ली

श्रद्धेय

परम पूज्यनीय पिताजी स्व० सुभेन्दु भूषण राय

एवं

सतत् प्रेरणादायिनी माताजी श्रीमती मीरा राय

को सादर सभक्ति समर्पित

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 30919869
e-mail : ebl@vsnl.net

प्रथम संस्करण : 2005

आइ.एस्.बी.एन्. : 81-87454-081-9

मूल्य : 350.00

आचार्य उद्भट और उनके टीकाकारों
का संस्कृत काव्यशास्त्र को योगदान
काकोली राय

टाईप सेटिंग : क्रियेटिव ग्राफिक्स, दिल्ली
मुद्रक : आर० के आफसेट, दिल्ली

श्रद्धेय

परम पूज्यनीय पिताजी स्व० सुभेन्दु भूषण राय

एवं

सतत् प्रेरणादायिनी माताजी श्रीमती मीरा राय

को सादर सभक्ति समर्पित

प्राक्कथन

राजशेखर ने कहा है कि साहित्यशास्त्र और साहित्य वही समझ सकता है जो पदवाक्य प्रमाणज्ञ हो–

"पदवाक्याप्रमाणेषु तदेतत् परिकीर्तितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति।।"

बात को अधिक प्रभावशाली टंग से कहने का प्रकार ही अलंकार है और उन (कथन प्रकारों) की संख्या को सीमित नहीं किया जा सकता। आचार्य दण्डी के शब्दों में–

"ते चाद्यापि प्रकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।"

अलंकार सम्प्रदाय में भरत सं लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा इस सम्प्रदाय को समृद्ध किया है। इनमें उद्भट का विशेष स्थान है। इन्होंने पाँच नूतन अलंकारों की उद्भावना की और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उद्भावित अलंकारों का अधिक स्पष्ट लक्षण और उदाहरण दिया। डॉ० काकोली राय का शोध-प्रबन्ध "आचार्य उद्भट और उनके टीकाकारों का संस्कृत काव्यशास्त्र को योगदान" दिल्ली विश्वविद्यालय की पीएच०डी० उपाधि हेतु स्वीकृत है। अलंकार सम्प्रदाय के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रंथ बहुत उपयोगी होगा ऐसा मेरा मन्तव्य है।

प्रो० देवेन्द्र मिश्र
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्व विद्यालय

दो-शब्द

आचार्य भरत से लेकर लगभग दो सहस्र वर्षों के सुदीर्घ काल को उत्तीर्ण कर काव्य समीक्षा आज तक निरन्तर विकसित हो रही है। इसी मध्य काव्यसमीक्षा के विविध पक्षों पर व्यापक विचारविमर्श हुआ है। वाचिक अभिनय के रूप में साहित्य समीक्षा के जो सिद्धान्त निर्मित होने प्रारम्भ हुए थे, वे अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य और रस के सोपान से क्रमश: विकसित होते हुए 20वीं शताब्दी में पुन: अलङ्कार और रस के रूप में परिनिष्ठित हो रहे हैं। काव्यालोचन की इस परम्परा का अध्ययन वर्त्तमान सन्दर्भों के साथ जोड़कर किया जाना दो दृष्टियों से अत्यन्त आवश्यक हो गया है-

(1) एक तो प्राचीन भारतीय परम्परा के वास्तविक स्वरूप को समझने का यही एकमात्र उपाय है,

(2) बदलते हुए समय के साथ अभिव्यक्ति की शैलियाँ इतनी परिवर्तित हो जाती हैं कि शास्त्र का मर्म समझने के लिए उसका परीक्षा-पूर्वक आकलन अनिवार्य हो जाता है। काल के सुदीर्घ व्यवधान से भाषा, पारिभाषिक शब्दावली और विश्लेषण की पद्धति इतनी बदल जाती है कि प्राचीन ग्रन्थों का वास्तविक मर्म तिरोहित सा होने लगता है। उससे न केवल उन्हें समझना ही कठिन हो जाता है बल्कि उसके अभाव में ज्ञान-विज्ञान का व्यापक क्षेत्र भी हमारी पहुँच से बाहर हो जाता है, इसलिए प्राचीन विषयों का आधुनिक शैली में पुनराख्यान ऐतिहासिक उपलब्धियों को साथ लेकर ज्ञान की अनन्त सम्भावनाओं में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त करता है। इस दृष्टि से प्राचीन होने पर भी उद्भट जैसे आचार्यों का अध्ययन एवं अनुसन्धान सर्वथा प्रासंगिक ही रहता है। विशेष रूप से उसके टीकाकारों की स्थापनाओं का अध्ययन इस दृष्टि से और भी अधिक उपयोगी है।

भारतीय काव्यशास्त्र का विकास प्रारम्भिक काल से ही दो समानान्तर धाराओं

में हुआ है। एक परम्परा कश्मीरदेशीय आचार्यों की थी, जिसमें भामह, उद्भट, आनन्दवर्धन मम्मट, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि आचार्य आते हैं। ये काव्य में अर्थ अथवा भावतत्त्व को अधिक महत्त्व दिया करते थे। इसे आज की शब्दावली में 'कण्टैण्ट्स्वाद' कहा जाता है। दूसरी परम्परा दक्षिण भारतीय आचार्यों की थी जो 'सौशब्ज्यवाद' के रूप में अपनी एक भिन्न समीक्षा पद्धति अपनाये हुए थे। ये काव्य में भावतत्त्व की अपेक्षा कथन प्रकार को अधिक महत्त्व देते थे। इस परम्परा में दण्डी, वामन, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ जैसे दिग्गज आचार्य हुए।

उद्भट भारतीय काव्यशास्त्र की कश्मीरी परम्परा के अत्यन्त प्रतिष्ठित और प्रामाणिक आचार्य हैं। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' भामह की पीठिका से लेकर मम्मट के शिखर तक पहुँचने का एक सोपान है। उद्भट अपने समय के इतने प्रामाणिक आचार्य माने जाते थे कि दूसरी कोटि के आचार्य अपनी स्थापनाओं के लिए उन्हें प्रमाण रूप में उद्धृत किया करते थे। उनकी दोनों टीकायें भारतीय काव्यशास्त्र की दो विरोधी धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'लघुवृत्ति' टीका के लेखक आचार्य प्रतीहारेन्दुराज मूल रूप से दक्षिण भारतीय थे। कश्मीर में रहते हुए भी अपनी परम्परा के प्रति उनका मोह समाप्त नहीं हुआ था बल्कि विरोधी परिवेश में रहते हुए प्रतिक्रिया के रूप में वह और भी अधिक उग्र होकर अभिव्यक्त होने लगा था। कश्मीरी आचार्य उद्भट के ग्रन्थ का दक्षिण भारतीय रीतिवादी शैली में आकलन इसका प्रमाण है। दूसरी ओर राजानक तिलक प्रख्यात आचार्य मम्मट भट्ट के गुरु थे। अत: उनके वैदुष्य में भी किसी प्रकार के सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। उनकी 'विवृति' टीका अल्प शब्दों में विपुल अर्थों को प्रकट करने वाली होने के कारण बहुश्रुत रही है। राजानक तिलक ने उद्भट के मर्म का प्रकाशन कश्मीरी भाववादी परम्परा के आलोक में किया है। अत: भारतीय काव्यशास्त्र की इन दोनों समीक्षापद्धतियों के विकास विश्लेषण में यह अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है। दक्षिण भारतीय रीतिवादी तथा औदीच्य भाववादी परम्परा का शुद्ध स्वरूप इन प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में ही विशद रूप में उपलब्ध होता है क्योंकि ग्रन्थों में तो उनमें परस्पर आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया था। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' की दोनों टीकाओं में जहाँ विरोधी सम्प्रदायों की मूल मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ पूर्ववर्ती समृद्ध शास्त्र परम्परा के विषय में महत्वपूर्ण संकेत भी उपलब्ध होते हैं और इस प्रकार काव्यशास्त्र की परम्परा के आलोक में इन आचार्यों का स्थान निर्धारित कर पाना भी सम्भव हो जाता है।

दुर्भाग्यवश इस विषय पर कोई उल्लेखनीय शोधकार्य अबतक प्रकाश में नहीं आया। प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति टीका का एकाधिक स्थलों से प्रकाशन अवश्य हुआ है, इनमें डॉ० एन० डी० बनहट्टी के अंग्रजी नोट्स के साथ प्रकाशित संस्करण महत्त्वपूर्ण भी है, परन्तु इसमें शोधकार्य जैसी गरिमा नहीं है। राजानक तिलक की टीका तो केवल मूल रूप में ही पूना से सन् 1931 में प्रकाशित हुई थी, वह संस्करण भी अब दुर्लभ हो गया है। आश्चर्य तो इस बात का है कि आचार्य उद्‌भट पर कभी कोई स्वतन्त्र शोधकार्य अब तक नहीं हुआ है जो काव्यशास्त्र की परम्परा में उनके गौरवपूर्ण स्थान का सम्यक् निर्धारण कर सके। काव्यालङ्कारसारसंग्रह के साथ-साथ भामह के काव्यालङ्कार पर उनके द्वारा रचित भामह विवरण के खण्डित अंश भी जिस रूप से भी वे उपलब्ध हुए, प्रकाशित हो गये हैं। ये अत्यन्त खण्डित और अपूर्ण होने के कारण उद्भट के मन्तव्य को पूरी तरह तो स्पष्ट नहीं कर पाते परन्तु जहाँ इससे कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर संकेत अवश्य उपलब्ध हो जाता है, वहाँ उद्भट की टीका शैली तथा जिस प्रकार के विषयों का विवेचन उन्होंने वहाँ किया था, उसकी ओर कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार उद्भट और उनके टीकाकारों के अध्ययन की संभावना अभी भी बनी हुई है।

इस विषय में प्रवेश के लिए वैदिक काल से लेकर भामह दण्डी और उद्भट तक की परम्परा के प्रकीर्ण सूत्रों को संगृहीत कर उन्हें उपस्थित करना अनिवार्य हो जाता है जिससे पूर्व परम्परा की पृष्ठभूमि में इन आचार्यों और उनके मन्तव्यों का सम्यक् रूप से बोध हो सके। पीठिका के रूप में प्रथम अध्याय में इसी विषय का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय आचार्य उद्भट तथा उनके टीकाकारों प्रतीहारेन्दुराज तथा राजानक तिलक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विचार है। यह प्रबन्ध केवल सैद्धान्तिक समीक्षा के उद्देश्य को लेकर चला है इसलिए उनके व्यक्तित्व को लेकर अत्यन्त विवादास्पद प्रश्नों के विस्तार में गये बिना मध्यममार्ग स्वीकार कर लिया गया है परन्तु अपनी स्थापना के सम्बन्ध में अवश्यनिर्देश्य विषय को छोड़ा भी नहीं गया। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' प्रधान रूप से अलङ्कारों का विवेचन करने वाला ग्रन्थ ही है। यहाँ छह वर्गों में कुल 41 अलङ्कारों का निरूपण है। एक अध्याय में अलङ्कारों के स्वरूप तथा उनके इन छः वर्गों में विभाजन के आधार को स्पष्ट करते हुए उनके स्वरूप की मीमांसा की गयी है। प्रत्येक वर्ग में निरुपित अलंकारों का स्वरूप एक-एक ककर स्पष्ट किया गया है तथा यथासंम्भव आचार्य उद्‌भट का प्रयास किया गया है। अलङ्कारों के विवेचन के प्रसंग में स्वाभाविक रूप उनसे सम्बन्धित

गुण, रस व ध्वनि आदि का विवेचन भी कहीं कहीं प्राप्त हो जाता है। प्रकीर्ण विषय शीर्षक से उनका निरूपण एक स्वतन्त्र अध्याय में किया जाना सर्वथा समुचित ही है।

उपसंहार के रूप में सभी विषयों का विवेचन करते हुए उद्‌भट की स्थापनाये दोनों टीकाकारों का तुलनात्मक दृष्टिकोण तथा काव्यशास्त्र की परम्परा में उद्‌भट और उनके टीकाकारों के स्थान को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत 'पुस्तक' शोध प्रबन्ध पर आधारित है। शोध प्रबन्ध के निर्देश स्व० डॉ० रमण कुमार शर्मा के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ। संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो० देवेन्द्र मिश्र के प्रति में श्रद्धा प्रकट करती हूँ, जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी इस पुस्तक के लिए प्राक्कथन लिखवाया तथा जिनकी सद्प्रेरणा से यह कार्य सम्पन्न हुआ। प्रो० दीप्ति त्रिपाठी, प्रो० अवनीन्द्र कुमार, प्रो० मदन मोहन अग्रवाल के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त रती हूँ इनलोगों का आर्शीवाद मुझे निरन्तर प्राप्त होता रहा है। डॉ० विजय वर्मा तथा डॉ० संजय तिवारी को भी धन्यवाद देना चाहूँगी जिन्होंने इस कार्य को सफल बनाने में अपना योगदान दिया है। अन्त में मैं अपनी दीदी तथा दोस्तों के प्रति आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिनके स्नेह, उत्साह, सहयोग एवं प्रेरणा से यह कार्य सम्भव हो सका।

अन्त में मैं अपनी पूज्यनीया माता एवं दीदी के प्रति आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझती हूँ जिनके स्नेह, उत्साह, सहयोग एवं प्रेरणा से यह कार्य सम्भव हो सका।

काकोली राय

संकेत-सूची

अ० र०	अलङ्काररत्नाकर
अ० शे०	अलङ्कारशेखर
अ० स०	अलङ्कारसर्वस्व
ए०	एकावली
का० अ०	काव्यालङ्कार
का० अ० (रु)	काव्यालङ्कार (रुद्रट)
का० अनु०	काव्यानुशासनम्
का० आ०	काव्यादर्श
का० प्र०	काव्यप्रकाश
का० मी०	काव्यमीमांसा
का० सा० स०	काव्यालङ्कारसारसंग्रह
का० सू० वृ०	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
कु० आ०	कुवलयानन्द
च० आ०	चन्द्रालोक
चि० मी०	चित्रमीमांसा
ध्व० आ०	ध्वन्यालोक
ध्व० लो०	ध्वन्यालोकलोचनम्
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
नि०	निरुक्त
र० ग०	रसगंगाधर
रा० त०	राजतरंगिणी

ल० वृ०	लघुवृत्ति
व०	वर्ग
व० जी०	वक्रोक्तिजीवित
वि०	विवृत्ति
वि० ध० पु०	विष्णुधर्मोत्तरपुराण
व्य० वि०	व्यक्तिविवेक
शृं० प्र०	शृंगारप्रकाश
सं०	संस्करण
स० क०	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा० द०	साहित्यदर्पण
स० र०	संगीत रत्नाकर

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पीठिका

शायद पहला कवि वियोगी रहा होगा, अथवा प्रातःकाल सूनरी उषा के मोहक सौन्दर्य को देखकर उसकी वैखरी फूट पड़ी होगी अथवा किसी रुद्र के भयानक प्रकोप से भयभीत होकर उससे बचने के लिए वह उसकी काव्यात्मक स्तुति में प्रवृत्त हो गया होगा और उसकी इस भावात्मक अभिव्यक्ति को सुनकर जब किसी सहृदय ने प्रसन्न होकर 'वाह' कहा होगा, तभी आलोचना का जन्म हो गया था। इसलिए काव्य के अनुपद ही काव्यशास्त्र का जन्म हो जाने की बात निराधार नहीं है। परन्तु यह चिन्तनपरम्परा किस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ती हुई क्रमशः विकसित होती रही, उसके विकास के कोई पुष्ट प्रमाण अब उपलब्ध नहीं होते। इस विवेचन का व्यवस्थित इतिहास भरत के नाट्यशास्त्र से ही प्रारंभ होता है। परन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि भरत का नाट्यशास्त्र इस परम्परा का प्रथम ग्रन्थ नहीं था, ऐसा स्वयं नाट्यशास्त्र के प्रामाण्य पर कहा जा सकता है।

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदि काव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदि कवि' माने जाते हैं। संस्कृत की काव्य-धारा रसकूल का आश्रय लेकर प्रवाहित होगी इसका परिचय उसी समय मिल गया जब प्रेमपरायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर कवि के हृदय का श्लोक के रूप में छलक पड़ा था।[1]

रसाविष्ट हृदय होने पर ही कविता का उद्गम होता है। काव्य अन्तश्चेतना की बाह्य अभिव्यक्ति है। जो हृदय स्वतः किसी भाव का अनुभव नहीं करता, वह किसी भी दशा में दूसरों के ऊपर उस भाव का प्रकटीकरण नहीं कर सकता। अतएव रसात्मक कविता के उन्मेष के लिए हृदय को रस दशा में पहुँचाना ही पड़ता है। तीव्र

---

1. मा निषाद प्रतिष्ठास्तवमगमः शाश्वतीः समाः।
   यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। वाल० रा०, 2/15

भाव के अन्त:जागरण के साथ ही साथ उसकी शाब्दी अभिव्यक्ति बाहर अवश्यमेव होती है। आलोचना के इस मर्म को वाल्मीकि ने हमें सूत्र रूप से समझाया। रामायण में कवि ने लव-कुश के द्वारा मधुर स्वरों में रामायण का गायन वाल्मीकि की इस मार्मिक आलोचना का भाजन है।[1]

किष्किन्धा काण्ड में हुनमान जी के भाषण की प्रशंसा में रामचन्द्र ने जो उपादेय बातें कही हैं वे साहित्य की दृष्टि से मार्मिक हैं।[2]

इन्होंने थोड़े में ही बड़ी स्पष्टता के साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है। उसे समझने में कहीं कोई संदेह नहीं हुआ है। रुक-रुककर अथवा शब्दों या अक्षरों को तोड़ मरोड़कर किसी ऐसे वाक्य का उच्चारण नहीं किया है, जो सुनने में कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदय में मध्यमारूप से स्थित है और कण्ठ से बैखरी रूप में प्रकट होती है, अत: बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची। मध्यम स्वर में ही इन्होंने सब बातें कही हैं।[3]

ये संस्कार जिसे व्याकरण के नियमानुकूल शुद्ध वाणी को संस्कारसम्पन्न कहते हैं और क्रम से सम्पन्न अद्भुत, अविलम्बित तथा हृदय को आनन्द प्रदान करनेवाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं।[4] हृदय, कण्ठ और मूर्धा इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्रवाणी को सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा। वध करने के लिए तलवार उठाये हुए शत्रु का हृदय भी इस अद्भुत वाणी से बदल सकता है।[5]

---

1. अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषत:।
   चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।। वाल० रा०।
2. ततश्च हनुमान् वाच श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया।
   विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च।। कि० का० 3/3
   आबभाषे च तौ वीरौ यथावत् प्रशशंस च।
   सम्पूज्य विधिवद् वीरौ हनुमान वानरोत्तम:।। वही, 3/4
   उवाच कामतो वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ।
   राजर्षिदेवप्रतिमौ तापसौ संशितव्रतौ।। वही, 3/5
3. अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्ययथम्।
   उर: स्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्।। कि० का०, 3/31
4. संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
   उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्।। वही, 3/32
5. अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यंजनस्थया।
   कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि।। वही, 3/33

प्राचीनकाल से ही काव्यात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए विविध प्रकार के प्रयोग कवि करते रहे हैं; परन्तु उसके रूप में परिवर्तन भी समयानुसार होता रहा है। वैदिक मन्त्रों में ऋषियों की ऐसी ही सौन्दर्य-साधना प्रकट हुई है, जिसके कुछ उदाहरण हमें ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।[1] विशेष रूप से उषस् सूक्तों के काव्यात्मक सौन्दर्य को बार-बार सराहा गया हैं। परन्तु वैदिक काल में काव्यशास्त्र से संबंधित किसी मत अथवा वाद का कोई उल्लेख नहीं मिलता। सत्य तो यह है कि उस समय में शास्त्र के संदर्भ ढूँढने का अत्यधिक प्रयास भी नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि आखिर अलङ्कारों के सामान्य प्रयोग तथा किसी सुनिश्चित नियमबद्ध व्यवस्था में काल का सुदीर्घ व्यवधान होता ही है।

अलङ्कारों के शास्त्रीय निरूपण की दृष्टि से स्पष्ट रूप से संकेत निघण्टु और निरुक्त से ही मिलने प्रारंभ होते हैं। यद्यपि उन्हें भी स्थूल संकेत ही कहा जाना चाहिए। उपमा के संदर्भ में आचार्य यास्क ने वैयाकरण गार्ग्य के विचारों को उद्धृत किया है।[2] पाणिनि के समय तक उपमा की यह संकल्पना न केवल विकसित हो गयी थी बल्कि अष्ट्याध्यायी में इससे संबंधित पारिभाषिक शब्दोंउपमान,[3]

---

1. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
   जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।। ऋ० वे०, 1/124/7
   संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
   वाचं पर्जन्यजिन्वतां प्र मण्डूका अवादिषु।। वही, 7/10/3/1
2. अथात उपमाः। यद अतत् तत्सदृशं इति गार्ग्यः।। तदासां कर्म।।
   ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीतेऽथापि कनीयसा ज्यायांसम्।। नि०, अ०-3, पा० 3, खंड 14
3. उपमानानि सामान्यवचनैः । अ०, 2/1/55
   उपमानादाचारे। वही, 3/1/10
   कर्त्तर्युपमाने। वही, 3/2/79
   उपमाने कर्मणि च। वही, 3/4/45
   उपमानादप्राणिषुं। अष्ट्याध्यायी, 5/4/97
   उपमानाच्च, वही।। 5/4/137
   संज्ञायामुपमानम, वही, 6/1/204
   तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्या, वही, 6/2/2
   गोबिडालसिंहसैन्धवेषूपमाने, वही, 6/2/72
   उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव, वही, 6/2/80
   चीरमुपमानम्, वही, 6/2/127
   सूपमानत् क्तः, वही, 6/2/145
   निष्ठोपमानादन्यतरस्याम वही, 6/2/169

उपमित,[1] सामान्य,[2] औपम्य,[3] उपमा,[4] उपमार्थ,[5] और सुदृश्य[6] शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा के प्रारंभ में काव्यशास्त्रीय आचार्यों की एक सूची प्रस्तुत की है। उसकी ऐतिहासिकता का सर्वथा अपलाप किया जाना संभव नहीं है। भले ही आज हमारे पास उन सबकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं है। केवल भरत का नाट्यशास्त्र पूर्ण रूप से उपलब्ध हो पाया है। यह ग्रंथ भी अपनी पूर्व परम्परा के विषय में कुछ निश्चित स्पष्ट संकेत देता है। सुवर्णनाभ और कुचुमार का उल्लेख कामशास्त्र के आचार्यों के रूप में कामसूत्र में भी उपलब्ध होता है।[7] अभिनवभारती और अग्निपुराण में भरत के पूर्ववर्ती किसी कश्यप नामक आचार्य का भी उल्लेख है[8] परन्तु उनकी कृतियों के अभाव में उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं पर कोई टिप्पणी कर पाना संभव नहीं है। काव्यादर्श की हृदयङ्गमा टीका में उनके साथ वररुचि का भी अलङ्कारशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख है।[9] अभिनवगुप्त नन्दिकेश्वर की रचना में अवश्य परिचित थे।[10] इन्हें रस सिद्धान्त का आदिप्रवर्त्तक माना गया है। उनके नाम से एक अभिनयदर्पण नामक ग्रन्थ का प्रकाशन भी हुआ है।[11]

काव्यमीमांसा में विभिन्न विषयों के साथ जिन-जिन आचार्यों का नाम जोड़ा गया है, उस तत्त्व की उपलब्धि जब हुई तभी उनकी स्थिति भी माननी चाहिए।

---

1. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे। वही, 2/1/56
2. नामन्त्रिते सामानाधिकरणे सामान्यवचनम्। वही, 18/1/73
3. जीविकोपनिषदावौपम्ये। वही, 1/4/79
   ऊरुत्तरपदादौपम्ये। वही, 4/1/69
   संज्ञौपम्ययोश्च। वही, 6/2/113
4. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्। वही, 2/3/72
5. चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने। वही, 8/2/101
6. पश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु। वही, 2/1/6
   यथाऽसादृश्ये। वही, 2/1/7
   सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये, वही, 6/2/11
7. का० सू० वृ०, 1/1/14 एवं 1/1/17
8. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० 2-3
9. पूर्वेषां काश्यपवररूचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य। का० आ०, 1/2 पर हृदयङ्गमा टीका।
10. अ० भा०, अध्याय, 29
11. संपादक, वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967

जैसे-जैसे इतिहास के पृष्ठ खुलते जायेंगे, इनकी प्रामाणिकता और पुष्ट होती जायेगी। दूसरी ओर इस विवेचन से एक अन्य आकर्षक तथ्य भी प्रकाश में आता है कि तत्त्वविशेष के साथ जिस आचार्य का नाम जोड़ा गया है कदाचित् यह भी आवश्यक नहीं कि वह उसका प्रथम उद्गाता ही हो। उदाहरण के लिए रूपक को भरत के नाम के साथ जोड़ा गया है। केवल उन्हीं का नाट्यशास्त्र उपलब्ध भी हो पाया है परन्तु अपने से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख स्वयं भरत ने ही किया है।[1] सत्य तो यह है कि जिस आचार्य ने उस तत्त्व का सर्वाङ्गनिरूपण किया, अथवा जो उस विषय का प्रामाणिक आचार्य था, उसी को उसका प्रथम व्याख्याता मान लिया गया, जैसे वह विषय उसे साक्षात् दैवी कृपा से ही प्राप्त हुआ हो। उस काल में संभवत: काव्य के एक-एक पक्ष को लेकर ही प्राय: ग्रन्थरचना की जाती थी। भामह ने रामशर्मा को प्रहेलिका के प्रामाणिक आचार्य के रूप में उद्धृत किया है[2] यद्यपि वे स्वयं उसमें काव्यत्व नहीं मानते।[3] इसी प्रकार प्रचेतायन ने अनुप्रास, चित्राङ्गद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष और उतथ्य ने अर्थश्लेष का निरूपण किया। भामह, दण्डी और मेधावी आदि के ग्रन्थ काव्य के समग्र पक्षों पर मौलिक और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन करने के कारण ही अधिक प्रसिद्ध हुए और छोटे-छोटे ग्रन्थ जो आलोचना के किसी एक पक्ष पर ही विचार करते थे, उनके समक्ष निष्प्रभ हो गये और धीरे-धीरे उनकी मान्यता भी समाप्त हो गयी, परन्तु उनकी कीर्ति राजशेखर के समय तक भी सुरक्षित थी।

यह भी निश्चित ही है कि काव्यशास्त्र से पूर्व नाट्यशास्त्र का विकास हो चुका था। स्वयं आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के संदर्भ में ही काव्य के सामान्य विषयों गुण, दोष, अलङ्कार आदि पर विचार किया गया था। सत्य तो यह है कि बाद में जाकर जिससे काव्यशास्त्र विकसित हुआ, वह पर्याप्त सामग्री भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होती है। भरत के ही सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए भट्टनायक ने कवि के अभिधाव्यापारप्रधान कर्म में काव्यसंज्ञा का व्यवहार किया था।[1] यह व्यापार शास्त्र के शब्दप्राधान्य और आख्यान के अर्थ-प्राधान्य के विपरीत इन दोनों ही के गुणीभाव में पर्यवसित होता है।[2] भामह ने भरत के ही विवेचन को

---

1. कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः।
सत्यधर्मतयायुक्तैः कश्चित् कालमवस्थितैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नाराणां बुद्धिवर्धनम्।। ना० शा०, 36/71-72
2. प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे। का० अ०, 2/19
3. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः। वही, 2/20

आगे बढ़ाते हुए 'सहित शब्दार्थ' में काव्यत्व माना।[3] उनके 'सहित' शब्द का ही विकास कुन्तक में 'साहित्य' के रूप में हुआ।[4]

भरत के नाट्यशास्त्र के बाद सीधे भामह का काव्यालङ्कार उपलब्ध होता है जो विशुद्ध रूप से काव्यसिद्धान्तों का निर्वचन करता है। इसके मध्य का काल प्राय: तिमिराच्छन्न ही है। परन्तु बाह्य साक्ष्यों से कुछ आचार्यों अथवा रचनाओं का उल्लेख अवश्य मिलता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें से भी कुछ सम्भवत: इसी काल में रहे होंगे। प्रचेतायन को अनुप्रास का प्रवक्ता बताया गया है। नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख नहीं जो काव्यालङ्कार में पाँच प्रमुख अलङ्कारों के वर्ग में परिगणित है। चित्र, शब्दार्थश्लेष, अतिशय और वास्तव के उद्भावक भी क्रमश: चित्राङ्गद, शेष, उतथ्य, पाराशर और पुलस्त्य हैं। चित्र तथा वास्तव का उल्लेख तो भामह के काव्यालङ्कार में भी नहीं मिलता।

क्रमश: काव्यचर्चा ने नाट्शास्त्र से पृथक् होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना लिया था। इसका कारण यह था कि इसके उपकरणभूत महाकाव्य, मुक्तक और गद्य रचनायें व्यापक स्तर पर स्वतन्त्र रूप से संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में लिखी जाने लगी थीं।[5] गद्य के भेदों में कथा और आख्यायिका का प्रचलन था।[6] यह विभाजन लगभग सर्वमान्य ही हो गया था क्योंकि इसके विरोध में दिये गये दण्डी के प्रबल तर्क भी इस प्रवाह को रोक नहीं पाये। इतना ही नहीं कला और शास्त्र को आश्रय बनाकर भी सर्गबद्ध रचनाओं का प्रणयन किया जाता था।[7] केवल वाचिक अभिनय में ही इसका पूर्ण विवेचन कर पाना अब सम्भव नहीं रहा था।

परन्तु इसके स्वतन्त्र होते ही अलङ्कारशास्त्र में वर्णनीय विषयों का आभाव सा हो गया। सिद्धान्तों की चर्चा उस समय काव्य-गोष्ठियों में की जाती थी, जहाँ

---

1. अभिधाव्यापराप्रधानं काव्यमित्युक्तम्। अ० भा०, 16/1 में उद्धृत।
2. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु:।
   अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयो:।।
   द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्। ध्व० लो०, प्रथमाध्याय, पृ० 31, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
3. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। का० अ०, 1/16
4. साहित्यमनयो: शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
   अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति:।। व० जी०, 1/17
5. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। का० अ०, 1/16
6. .....तथैवाख्यायिकाकथे। वही, 1/18
7. कलाशास्त्राश्रयञ्चेति। वही, 1/17

व्याकरण, न्याय और मीमांसा जैसे शास्त्रों का वर्चस्व था। स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हुए शास्त्र पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। भामह और वामन के ग्रन्थों में शब्दशुद्धि परिच्छेद व्याकरण के काव्यशास्त्र पर स्पष्ट प्रभाव का सूचक है। अन्य किसी ग्रन्थ में इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता। संभवत: उस समय के सम्प्रति अनुपलब्ध कुछ ग्रन्थों में इसका विवेचन हुआ हो। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इस विषय की उपलब्धि इसका प्रमाण है। व्याकरण के ऋण को अन्यथा भी काव्यशास्त्री स्वीकार करते रहे हैं। भामह के न्याय के प्रभाव से न्यायदोषों के लिए भी एक स्वतंत्र परिच्छेद व्यय किया, दण्डी को यह अच्छा नहीं लगा।[1] बाद में भी किसी ने इसे नहीं माना। वामन ने स्तनादि की द्वित्वाविष्टता जैमिनिमत के प्रभाव से ही स्वीकार की।[2] डॉ० देशपाण्डे तो लक्षणों को भी निरुक्त और मीमांसा से आया हुआ मानते हैं।[3]

दृश्यकाव्य अभिनय के माध्यम से रसानुभूति का साक्षात् साधन था। सर्गबन्ध के लिए ऐसी कोई आवश्यक शर्त नहीं थी पुनरपि उस वाक्य को उत्तम माना जाता था। जहाँ शृंगारादि रस स्पष्ट रूप से उद्दीप्त हों। गुण, अलङ्कार और लक्षणों का प्रयोग रससापेक्ष ही इष्ट था।[4] श्रव्यकाव्य में जब रस का स्थान अलङ्कारों को मिला तो रसवत्ता को एक अलङ्कार ही मान लिया गया।[5] अलङ्कारों की स्थिति जब काव्य में गौण हुई तो इसे नित्यस्थिति गुण के साथ जोड़ दिया गया।[6] धीरे-धीरे जब काव्यचिन्तन और अधिक सूक्ष्म तथा गंभीर हुआ तो यही काव्यात्मपद पर प्रतिष्ठित हुआ।[7] नाट्शास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य यद्यपि रस ही नहीं है तथापि इस सन्दर्भ में यहाँ विवेचित "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र अब तक रसविवेचन का उपजीव्य बना हुआ है। यही आठ रसों का विवेचन है। शान्त को भी मिलाकर यहाँ संख्या नौ हो जाती है।

नाट्शास्त्र से स्वतन्त्र होकर काव्यशास्त्र का विकास दो सामानान्तर धाराओं में

---

1. प्रतिज्ञाहेतुदृष्यन्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
   विचार: कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्।। का० आ०, 3/127
2. अथ कथं द्वित्वाविष्टत्वं जातेः। ...... तर्हि जैमिनीया जानन्ति। वयं तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः।। का० सू० वृ०, 5/1/17 वृत्ति।
3. गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० 44
4. (क) प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्। ना० शा०, 17/108
   (ख) नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते। वही
5. रसवददर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा। का० अ०, 3/6
6. दीप्तरसत्वं कान्तिः। का० सू० वृ०, 3/2/15
7. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। सा० द०, 1/3

हुआ। दोषहान के साथ-साथ काव्यशोभा का उपकार करने वाले धर्म गुण और अलङ्कार थे। गुणों का स्वरूप दोषों का विपर्ययरूप था। नाट्यशास्त्र में इनकी संख्या दस मानी गयी थी। वामन ने पुनः इन्हें शब्द और अर्थ के रूप में द्विविध मानकर इनकी संख्या बीस कर दी। इनसे पहले संभवतः भरत का दशगुणवाद ही उस समय अधिक प्रचलित था। भामह इसका अपवाद कहे जा सकते हैं। उन्होंने केवल प्रसाद, माधुर्य और ओज का विवेचन किया[1] इनकी वास्तविक प्रतिष्ठा रसध्वनिवाद में जाकर हुई। भामह के गुण वस्तुतः समास की स्थिति पर आधारित थे परन्तु उनके निकट परवर्ती दण्डी ने भरतोक्त दशगुणवाद को ही स्वीकार किया और स्थिति के आधार पर इन्हें वैदर्भ तथा गौड़ मार्गों का नियामक माना।[2] उनसे पूर्व भामह ने ऐसा मानने वाले आचार्यों के मत का विरोध किया था।[3]

एक धारा औदीच्य विद्वानों की थी तो दूसरी परम्परा में दक्षिणात्य आचार्य थे जो अपनी भिन्न समीक्षापद्धति को अपनाए हुए थे। इसी परम्परा में मङ्गल, दण्डी, वामन, भोज, प्रतीहारेन्दुराज, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य हुए। भामह, उद्भट, आनंदवर्धन और मम्मट औदीच्य परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। समीक्षाशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही इन दोनों में विरोध के संकेत मिलते हैं। भामह स्थान-स्थान पर अपने से भिन्न किसी परम्परा का खण्डन करते देखे जाते हैं जो शब्द संघटना को अधिक महत्त्व दिया करती थी। भामह ने इसके लिए 'सौशब्द्य' शब्द का प्रयोग किया।[4] सौशब्द्य का अभिप्राय सुन्दर पदविन्यास है, जिसकी चरम प्रतिष्ठा वामन के रीतिवाद में जाकर हुई। आधुनिक समालोचना की शब्दावली में इसे 'फार्मवाद' कहा जा सकता है। भामह यद्यपि शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्यत्व मानते हैं तथापि अर्थ को वे अधिक महत्त्व देते थे क्योंकि उनके अनुसार अलङ्कारों

---

1. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
   ते चाद्यापि विकलपयन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।। का० अ०, 2/1
   किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्
   तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः।। वही, 2/2
   काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
   साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रदर्श्यते।। वही, 2/3
2. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
   एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।। वही, 1/42
3. वही, 1/31-35
4. तदेतदाहुः सौशब्द्यम् ......। का० अ०, 1/15

का प्राणभूत तत्त्व वक्रोक्ति शब्दार्थोभयमूलक होकर भी प्रधानतया अर्थ का ही विभावन करता है। 'सौशब्द्य' पद्धति से अर्थ का संस्कार नहीं हो पाता।[1] यह कण्टैण्ट्स्वाद है जिनकी चरम परिणति ध्वनि सिद्धान्त के रूप में हुई।

दक्षिणात्य परम्परा गुणों को अधिक महत्त्व देती थी, औदीच्य परम्परा में यही स्थिति अलङ्कारों की थी। इस परम्परा में यही स्थिति अलङ्कारों की थी। इस परम्परा के आचार्य गुण और अलङ्कारों के भेद को भी स्वीकार नहीं करते थे।[2] दण्डी और वामन के मध्य आचार्यों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जो काव्य में गुण और अलङ्कार का भेद क्रमशः उनकी समवाय और संयोग स्थिति के आधार पर किया करता था।[3] वामन ने इसके भेद को और अधिक स्पष्ट किया तथा इस विवेचन को अपनी मौलिक चिन्तन का स्पर्श प्रदान किया। गुणों को उन्होंने काव्यशोभा के कर्त्ता तथा अलङ्कारों को उसका उत्कर्षक माना।[4] मान्यताओं का यह संघर्ष उद्भट और वामन में चरम रूप में दृष्टिगोचर होता है।

नाटक में इतिवृत ही काव्य का शरीर था[5] जिसे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी अभिनय से प्रस्तुत किया जाता था। काव्यविवेचन में यही अभिनवगुप्त के अनुसार स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में उभर कर आये।[6] भामह इन्हें ही अलङ्कारों का आधार मानते थे। फिर भी वक्रोक्ति के प्रति उनका आग्रह स्पष्ट है। वक्रता का प्रसङ्ग आते ही वे भावुक हो उठते हैं और इसे ही समस्त अलङ्कारों का मूल तक कह देते हैं परन्तु स्वभावोक्ति में भी काव्यत्व का अपलाप वे नहीं कर सके। दण्डी ने तो स्वभावोक्ति को और भी अधिक महत्त्व दिया, जिसका शास्त्रों में तो साम्राज्य है ही काव्य में भी यह समान रूप से इष्ट है।[7]

काव्यसमीक्षा के अधिकतर सिद्धान्त इस समय कवि-गोष्ठियों में चर्चाओं से

---

1. नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी......। वही, 1/15
2. ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभ्येषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डुलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः।। का० प्र० अष्टम उच्छ्वास
3. एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्यातु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्कराणां भेदः। का०प्र०, अष्टम उच्छवास
4. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्तवत्वलङ्काराः।। का०सू०वृ०, 3/1/1-2
5. इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।
6. काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन....। अ० भा०, भारतीय साहित्यशास्त्र, देशपाण्डे, पृ० 39
7. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदिष्यते। का० आ०, 2/13

उभरकर आते थे। समीक्षकों द्वारा उन पर टिप्पणियाँ की जाती थीं। राजशेखर के समय तक भी इसके पुष्कल प्रमाण उपलब्ध होते हैं। काव्यमीमांसा में कहा गया है कि पुस्तक मात्र में न्यस्त काव्य रचनायें घर-घर में मिल जायेंगी[1] परन्तु तब तक उनका कोई उपयोग नहीं है जब तक वे भावकों के समक्ष गोष्ठी में समीक्षा के लिए प्रस्तुत नहीं की जातीं। इन गोष्ठियों में अपनी रचनाओं से भावकों को प्रभावित करना इतना सुकर नहीं था और फिर यदि रचना स्तरी न हो तो विद्वानों की सभा में अपयश का भाजन भी बनना पड़ता था। भामह ने तो इस अकीर्ति को मृत्यु के समान कहा[2] कीर्ति के लोभ से अनेकथा तो प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का अनुवाद करके ही कुछ छात्र-कवि इन गोष्ठियों में पहुँच जाया करते थे। भामह ने इस प्रवृत्ति की निन्दा की है। ऐसे कवि अन्यसारस्वत हैं जिनके पास रचना की मौलिकता के नाम पर कुछ भी नहीं है।[3] इन उदीयमान छात्रकवियों के लिए काव्यरचना सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत करना इस शास्त्र का उद्देश्य था। दण्डी ने उन्हें निरालस्य होकर काव्यसाधना का निर्देश दिया।[4] वामन ने अविवेकी छात्रकवियों की निन्दा की थी।[5] कम से कम ध्वनिपूर्ववर्ती प्रायः सभी ग्रन्थों को कविशिक्षा के अन्तर्गत रखा जा सकता है परन्तु भामह का काव्यालङ्कार इस दृष्टि से दोहरे उद्देश्य को लेकर चला है। व्याकरण, न्याय और मीमांसा के समकक्ष काव्य के महत्त्व को स्थापित कर पाना भामह की तड़प थी। शास्त्र को तो कोई मन्दबुद्धि भी गुरु से पढ़कर सीख सकता है परन्तु काव्यनिर्माण प्रत्येक के लिए सुलभ नहीं है।[6] काव्य के प्रयोजनों को भी ये इन शास्त्रों की तुलना में चतुर्वर्ग तक ले गये,[7] अन्यथा दूसरे आचार्य तो उन्हें कीर्ति अथवा अधिक से अधिक प्रीति तक सीमित रखते थे।[8]

1. सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे। का०मी०, पृ० 35
2. नाकवित्वमधमार्थ व्याधये दण्डनाय वा।
   कुकवित्वं पनुः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।। का० अ०, 1/12
3. मुख्यस्तावदयं न्यायो यत्स्वराक्त्या-प्रवर्त्तते।
   अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः।। वही, 6/6
4. तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
   कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्त्तुमीशते।। का० आ०, 1/105
5. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः। का० सू० वृ०, 1/2/5
   न कतकं पङ्कप्रसादनाय। वही 1/2/5
6. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
   काव्यं तु जायते जातु कस्यचत्प्रितिभावतः।। का० अ०, 1/5
7. धर्मार्थकाममोक्षेपु वैचक्षण्यं कलासु च।
   प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।। वही, 1/2
8. काव्यं सद् दृष्यदृष्यर्थ प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्। का० सू० वृ० 1/1/5

गद्य-पद्यात्मक विविध काव्यविधायें इस समय तक इतनी प्रसिद्ध हो गयी थीं कि नाट्य का महत्त्व अब गौण पड़ने लगा। भामह ने दबे स्वर से अभिनेयार्थ को काव्य में अन्तर्भूत माना।[1] दबे स्वर से इसलिए कि नाटक के विभिन्न रूपों के जो उदाहरण काव्यालङ्कार में दिए गए हैं, वे सभी गीतिनाट्य के हैं।[2] दण्डी ने इस बात को और स्पष्ट किया। वे नाटक को मिश्र कहते हैं।[3] वामन तक तो स्पष्ट रूप से दशरूपक काव्य का एक श्रेष्ठ भेद माना जाने लगा था।[4] इस प्रकार इस अन्तराल में काव्यसमीक्षा का इतना विस्तार हुआ कि जहाँ वह पहले कभी नाट्यशास्त्र की आनुषङ्गिक थी, अब स्वयं रूपक ही उसके सीमा विस्तार में समाहित हो गया।

आचार्य भरत और भामह के काव्यालङ्कार के बीच लगभग पाँच सौ वर्ष का अंतर है इस मध्यावधि में मङ्गल, मेधावी, कश्यप, वररुचि आदि काव्यशास्त्र के आचार्यों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। जिस समय काव्यशास्त्र का एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में उदय हो रहा था, उस समय न्याय और मीमांसा जैसे शास्त्र अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर थे जो मानव के लिए पुरुषार्थ चतुष्ट्य, अथ च परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का समर्थन कर रहे थे। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में सर्वप्रथम काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति की बात कही गयी है। यहाँ पुरुषार्थ चतुष्ट्य को काव्य के प्रयोजन के रूप में स्थापित किया गया है।[5] इतिहास में भी पूर्वपुरुषों के द्वारा आचरित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी वृत्त का ही अध्ययन होता है, जिससे सहृदयों को आनंदानुभूति नहीं होती क्योंकि यह शुष्क रीति से किया जाता है। जबकि काव्य विलक्षण प्रतिपादन शैली के कारण कवि और सहृदयों को आनंद की प्राप्ति करवाने में समर्थ होता है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लेख चित्रसूत्रविधि के अन्तर्गत हुआ है। महर्षि मार्कण्डेयराजा वज्र की शंकाओं का समाधान करते हुए पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति के निमित्त उन्हें चित्रसूत्रविधि का उपदेश कर रहे हैं क्योंकि

1. सर्गबन्धोऽभिनेयार्थ तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धश्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते।। का०अ०, 1/18
2. नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्। वही, 1/24
3. गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्। का०आ०, 1/11
4. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। का०सू०वृ०, 1/3/30
तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्। वही, 1/3/31
ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। वही, 1/3/32
5. धर्मार्थकाममोक्षाणं शास्त्रं स्यादुपदेशकम्। पूर्वैराचरितं सद्भिर्धर्मकामार्थसाधकम् चोपदेशं विना कृतम्। वि०ध०पु०, 3/15/2

इसके ज्ञान के द्वारा प्रतिमा लक्षण का ज्ञान संभव है। चित्रसूत्र का ज्ञान नाट्यशास्त्र, नृत का ज्ञान भी आतोद्य, आतोद्य का ज्ञान गीतशास्त्र अर्थात् काव्यशास्त्र पर आधारित है।[1] विष्णुधर्मोत्तरकार ने गीत को ही काव्य कहा है। 'गीत' शब्द काव्य के स्वरूप का प्रतिनिधि है। पुराणकार की उक्ति है कि समस्त वाङ्मय इन्हीं भेदों में निबद्ध होना चाहिए।[2] विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्रांश में इस (गीत) शास्त्र के अन्तर्गत जो विषय प्राप्त होता है वह काव्यशास्त्र ही है। इस पुराण में रूपकों की संख्या बारह, रसों की संख्या नौ तथा कुल अठारह अलङ्कार प्राप्त होते हैं। इसी तर्क के आधार पर प्रो० काणे इस ग्रन्थ को भरत और भामह के मध्यकाल में रखते हैं।[3] इस ग्रन्थ के एक सम्पूर्ण अध्याय में प्रहेलिकाओं का वर्णन प्राप्त होता है। काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का लगभग एक हजार कारिकाओं में वर्णन है। इस समय तक काव्यचर्चा वाचिक अभिनय से तो स्वतन्त्र हो गयी थी परन्तु इन दोनों शास्त्रों की पृथक् पृथक् स्थापना अभी नहीं हो पायी थी।

अग्नि-पुराण में अध्याय 342-45 में अलङ्कारों को 3 वर्गों में बाँटा गया है- (1) शब्दालङ्कार जिसका सम्बन्ध शब्दों में है।[4] (2) अर्थालङ्कार जिसका सम्बन्ध अर्थ से है।[5] (3) शब्दार्थालङ्कार जिसका सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों से है। 'श्लेष का प्रयोग करने वाला शब्दालङ्कार और काव्यमीमांसा दोनों का ज्ञाता होता है, क्योंकि श्लेष का ज्ञाता तीनों तरह के अलङ्कारों के प्रयोग से अवगत होता है तथा वह उनका उपयोग अपने व्याख्यान में आवश्यकतानुसार कर सकता है। दण्डी के काव्यादर्श की तरह ही अग्नि-पुराण में भी रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति और समाधि की व्याख्या की गयी है। अध्याय 346-47 में इनके गुणों और अवगुणों का वर्णन है। आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति और पर्यायोक्त की परिभाषा भामह से मिलता जुलता है। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में सन्धि, कारक, समास, तद्धित, उनादि, स्त्रीलिंग शब्दों का निर्माण, नपुंसक लिंग शब्द, कृत आदि का भी

---

1. वि०ध०पु०, 3/2/2-7
2. वाङ्मयखिलमनेन निबद्धं गद्यमपि यदथ पद्यसमेतम्। वि०ध०पु०, 3/2/21
3. काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० 90
4. स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः।
   एकवर्णाऽनेकवर्णावृत्तेर्वर्णगुणो द्विधा।। अ० पु०, अ०, 344
5. अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
   त विना शब्दसौन्दर्य्यामपि नास्ति मनोहरम्। वही

वर्णन है। नव रसों का वर्णन, नाटक निरूपण, नायक-नायिका भेद की भी चर्चा प्राप्त होती है। इसमें रीति का वर्णन भी है।[1]

इस समय में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन लक्षणों की अलंकारों के रूप में परिणति थी। अभिनवगुप्त ने भट्टतौत के प्रमाण से इन लक्षणों में ही विभिन्न अलङ्कारों के बीजभाव की ओर संकेत किया है।[2] परन्तु सभी लक्षण अलङ्कार के रूप में विकसित नहीं हुए थे। दण्डी ने भी नाट्य के सध्यङ्ग, वृत्यङ्ग, लक्षण आदि को अलङ्कारों में अन्तर्भूत माना।[3] अलङ्कारों का विवेचन जैसे-जैसे समृद्ध होता गया, उनकी भेदसंख्या में भी वृद्धि होती गयी। भामह के काव्यालङ्कार में शब्दार्थ तथा वक्रस्वभावोक्ति[4] के रूप में इनके विभाजन के दो आधारों की ओर भी संकेत मिलता है परन्तु व्यवस्थित रूप से संयोजन की दृष्टि से सर्वप्रथम वामन को प्रयास के ही प्रशस्त कहा जा सकता है। उन्होंने यह विभाजन शब्द और उपमामूलक अलङ्कार के रूप में किया। दक्षिण के आचार्यों में उपमा की मान्यता अधिक थी। इसलिए उस परम्परा के प्रति विशिष्ट आग्रह के कारण ही उन्होंने उपमा को इतना अधिक महत्त्व दिया। भामह के काव्यालङ्कार में विवेचित अड़तीस अलङ्कारों को अनेक वर्गों में विभाजित कर प्रस्तुत किया गया है। इन विभिन्न वर्गों को अलङ्कारों के ऐतिहासिक विकास के विभिन्न चरणों के रूप में देखा जाना चाहिए। आचार्य उद्भट ने भी भामह के अनुकरण पर छह वर्गों में अलङ्कारों को विभाजित कर प्रस्तुत किया है। उनका यह वर्गविभाजन भामह की तुलना में अधिक स्पष्ट दिखाई देता है।

उक्ति को सुशोभित करने के लिए दोषहान आवश्यक था। दण्डी के अनुसार काव्य में कोई दोष नहीं होना चाहिए। एक भी दूषित पद के प्रयोग से युक्त काव्य श्वित्रवत्र के दाग से सुन्दर मुख की तरह मलिन हो जाता है। जबकि भामह कुकवित्व को साक्षात मृत्यु कहते हैं।[5] परन्तु वही दोष कभी-कभी गुण भी बन जाता है, इस बात को भामह तक पहचान लिया गया था।[6] इसी कथन के आधार पर उत्तरवर्ती काल में दोषों के नित्यत्व और अनित्यत्व की कल्पना की गयी।

1. वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा।
   पांचाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा। वही, अ० 340
2. उपाध्यायमतं तु लक्षणबलात् अलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। अ०भा०, 16/40
3. उच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणान्यागमान्तरे।
   व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः। का०अ०, 2/366
4. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। वही, 1/30
5. कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः। का०अ०, 1/12
6. वही, 1/54-55

दोषहान के पश्चात् काव्यशोभा का उपकार करने वाले धर्म गुण और अलङ्कार थे। भामह ने केवल प्रसाद, माधुर्य और ओज को मान्यता दी है।[1] इनकी वास्तविक प्रतिष्ठा रसध्वनिवाद में जाकर हुई। दण्डी ने भरत के दशगुणवाद को स्वीकार किया और स्थिति के आधार पर इन्हें वैदर्भ तथा गौड़ मार्गों का नियामक माना।[2] जबकि उनसे पूर्व भामह ने ऐसा मानने वाले आचार्यों के मत का विरोध किया था।[3] भामह ने 'गुण' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है। अपवाद स्वरूप, यह प्रयोग भाविक अलङ्कार की चर्चा के प्रसंग में किया गया है। दंडी की तरह भामह ने भी 'भाविक' को 'प्रबंध-गुण' माना है। इन्होंने दो अध्यायों में अलङ्कारों का विशद निरूपण किया है। चौथे अध्यायों में काव्य-दोषों की चर्चा की है। तथा षष्ठ अध्याय शब्द शुद्धि के लिए समर्पित है। सभी अलङ्कारों में उक्तिवैचित्र्य का होना आवश्यक है। इनके मतानुसार 'वक्रोक्ति' ही काव्यार्थ की अभिव्यक्ति करती है, वक्रोक्ति के बिना काव्य में अलङ्करण संभव नहीं है। संभवतः भामह ने हेतू, सूक्ष्म तथा लेश जैसे अलङ्कारों को इसलिए अंस्वीकार किया है, क्योंकि इसमें वक्रोक्ति का समावेश नहीं होता।

भरत ने छत्तीस लक्षणों का विवेचन किया है। कदाचित् लक्षणों के आधार पर ही इस शास्त्र को भी अलङ्कारों की अपेक्षा लक्षण अधिक मान्य थे। क्योंकि नाट्यशास्त्र

---

1. केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जारितालका।। का० अ०, 2/2
माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।। वही, 2/1
श्रव्यं नातिसमस्तार्थ काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थ प्रसादवत्।। वही, 2/3
2. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।। का० आ०, 1/42
3. वैदर्भ मन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्।। वही, 1/31
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायात्रानाख्येयमभेधसाम्।। वही, 1/32
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते।। वही, 1/33
अपुष्यर्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।। वही, 1/34
अलङ्कारवग्राम्यमर्थ्य न्यायमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा। वही, 1/35

में जहाँ कुल चार ही अलङ्कारों का विवेचन है, वहीं लक्षणों की संख्या छत्तीस है। बल्कि लक्षणों की दूसरी सूची को भी यदि सम्मिलित कर दिया जाय तो यह संख्या 54 हो जाती है। काव्यशास्त्र के सिद्धांत में इन लक्षणों को क्या स्थान दिया जाना चाहिए इस कथन की पुष्टि भरत के विवेचन से स्पष्ट नहीं होती, परन्तु परवर्ती चिन्तन में अलङ्कारों अथवा गुणों को ही अधिक महत्त्व दिया गया। लक्षण क्रमशः लुप्त हो गये। आचार्य दण्डी ने नाट्य पर आश्रित सन्ध्यङ्ग तथा 'वृत्यंग' के साथ-साथ लक्षणों को भी व्यापक अर्थों में अलङ्कारों के अंतर्गत उल्लेख किया है। विश्वनाथ ने नाटक का वर्णन करते हुए कुछ लक्षणों को 'नाट्यलंकार' के वर्णित किया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि कुछ लक्षणों को गुण, अलङ्कार, भाव तथा संधि के अंतर्गत रखना आवश्यक है, फिर भी उनका विवचेन अपेक्षित है, क्योंकि नाटक में उनकी सिद्धि प्रयत्न से होती है।[1] उत्तरवर्ती परम्परा में चन्द्रालोक ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें लक्षणों का वर्णन प्राप्त होता है। काव्यशास्त्र के आदिकाल में लक्षणों को काव्य गुणों तथा अलङ्कारों से भिन्न मानकर उन्हें पृथक् रूप से विवेचन योग्य समझा गया था। बाद में इनका स्थान काव्य-गुणों तथा अलङ्कारों के क्षेत्र में निश्चित कर लिया गया और उन्हीं में इनका समावेश भी कर लिया गया। उदाहरण के लिए भरत ने 'आशीः' लक्षणों की सूची में रखा है,[2] जबकि भामह के काव्यालङ्कार में ऐसे आचार्यों के मत का उल्लेख किया गया है। जो इसे एक अलङ्कार मानते थे।[3] भामह इसके संबंध में अन्यमनस्क हैं। जबकि दण्डी अलङ्कारों की सूची में इसे सम्मिलित कर रहे हैं।[4] उद्भट इसका मौन निषेध करते हैं। यद्यपि अलङ्कार की तरह लक्षण का धर्म भी काव्य शोभाकर होता है, परन्तु उसका पृथक अस्तित्व नहीं होता। वह काव्य को शोभायमान करता है, किन्तु अलङ्कार की तरह विशिष्ट शोभा के लिए उसे पृथक रूप से जोड़ा नहीं जाता। आरंभ में लक्षण तथा अलङ्कार में किंचित समानधर्मिता थी, कालांतर में लक्षण अलङ्कार में विलीन हो गए। अभिनवगुप्त का मानना है कि अलङ्कार के समान, लक्षण भी शोभाकर धर्मी है।

लक्षणों के पश्चात् भरत ने केवल चार अलङ्कारों का वर्णन किया है-उपमा,

---

1. सा० द०, सं० दुर्गाप्रसाद, vi 171-111, पृ० 316-322
2. यत्र शास्त्रार्थसम्पन्नां मनोरथसमुद्भवाम्।
   अप्रार्थनीयामन्यां वा विदुस्तामाशिषं बुधाः।। ना० शा०, 16/28
3. आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मतः।
   सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा। का० अ०, 3/55
4. आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा।
   पातु वः परमं ज्योतिरवाङ् मनसगोचरः।। का० आ०, 2/357

रूपक, दीपक तथा यमक। 'उपमेय' अथवा 'उपमान' की एकता अथवा अनेकता के अनुसार 'उपमा' के चार भेद किए गए हैं। भरत ने उपमा के पाँच भेदों का उल्लेख किया है-प्रशंसोपमा, निंदोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी उपमा तथा किंचित सदृशी उपमा।[1] अभिनवगुप्त ने असदृशी पाठान्तर पर विचार किया है।[2] आचार्य भरत के द्वारा ही विवेचित प्रथम दो भेदों की आलोचना भामह ने की है[3] तथा दण्डी ने उसे स्वीकार किया है।[4] भरत ने रूपक तथा दीपक[5] के उपभेदों का उल्लेख नहीं किया परन्तु यमक के दस उपभेदों का उल्लेख किया है तथा उनके उदाहरण भी दिए हैं।[6] भरत ने यमक के लिए 'शब्दाभ्यास' पद का प्रयोग किया है।[7] इसे शब्द और अर्थ के आधार पर अलङ्कारों के भेद विभाग का प्रथम संकेत माना जा सकता है। भामह ने भी उल्लेख किया है।[8]

---

1. प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा।
   या किञ्चित्सदृशी ज्ञेया सोपमा पञ्चधा बुधैः।। वही, 16/46
2. एवमत्र सदृशेन कल्पितः सः। असदृशीत्यन्ये पठन्ति, व्याचक्षते च सदृश इहोपमेय उच्यते, यथा च व्युत्पत्तिः समान इव दृश्यमानस्तमिवात्मानं पश्यतीति। ना० शा०, 16/50
3. यदुक्तं त्रिप्ताकरत्वं तस्यां कैश्चिन्महात्मभिः।
   निन्दाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते।। का० अ०, 2/37
4. ब्रह्मणोऽप्युदभवः पदमं चन्द्रः शम्भुशिरोधृतः।
   तौ तुल्यौ त्वन्मुखेमिति सा प्रशंसोपमेष्यते।। का० आ०, 2/31
   पदमं बहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम्।
   समानमपि सोत्सेकंमिति निन्दोपमा स्मृता।। वही, 2/30
5. नानाधिकरणार्थानां शब्दानां संप्रदीपकम्।
   एकवाक्येन संयुक्तः तद्दीपकमुच्यते।। ना० शा०, 16/53
   स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
   किञ्चत्सादृश्यसम्पन्नं यद्रुपं तु तत्।। वही, 16/56
6. पादात्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च।
   समुद्गयमकं चैव विक्रान्तयमकं तथा। वही, 16/60
   यमकं चक्रवालं च सन्दष्टयमकं तथा।
   पदादियमकञ्चैव ह्याम्रेडितमथापि च।। वही, 16/61
   चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च।
   एतादृशाविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम्।। वही, 16/62
   चतुर्णा यत्र पादानामन्ते स्यात्सममक्षरम्।
   तद्वै पादान्तयमकं विज्ञेयं नामतो यथा।। वही, 16/63
7. शब्दाभ्यासस्तु यमकम्। ना०शा०, 16/62, काव्यमाला संस्करण, 42
8. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः। का० अ०, 1/15

भरत ने अलङ्कारों के पश्चात् दस काव्य दोषों तथा काव्य गुणों की चर्चा की है। काफी समय तक आचार्य इस संख्या नियम का यथावत् पालन करने का प्रयास करते रहे, परन्तु अन्त पर्यन्त इस निर्देश का पालन करना संभव नहीं था। स्वयं भामह से न्यायदोषों के विवेचन की परम्परा प्रारंभ हो गयी थी। भले ही दंडी ने कठोर शब्दों में उसका खंडन भी कर दिया। दशगुणवाद का विरोध करने वाले आचार्य तो उस समय बहुत बड़ी संख्या में थे जिनमें भामह और उद्भट भी हैं।

आचार्य भरत के द्वारा निरूपित दोष इस प्रकार से हैं[1] –

1. गूढ़ार्थ (पर्यायशब्दाभिहितम्)।
2. अर्थांतर (अवर्ण्यस्य वर्णनम्)।
3. अर्थहीन (असंबद्ध) (अशेषार्थ)।
4. भिन्नार्थ (असभ्य अथवा भिन्नार्थ)।
5. एकार्थ (एकार्थस्य अभिधानम्)।
6. अभिलुप्तार्थ (यत्पदेन समस्यते)।
7. न्यायादपेतं (प्रमाण वर्जितम्)।
8. विषम (वृत्त दोष)
9. विसंधि
10. शब्द-हीन (अपशब्दस्य योजनम्)

आचार्य भामह के द्वारा निरूपित दोष इस प्रकार हैं[2] –

1. अपार्थ-अपूर्ण अर्थ।
2. व्यर्थ-संदर्भ प्रतिकूल अर्थ।
3. एकार्थ-(भामह के कथनानुसार अन्य आचार्यों ने इसे पुनरुक्त कहा है। भरत इस सर्वविदित यज्ञ से अनभिज्ञ थे।)
4. ससंशय।
5. अपक्रम।
6. शब्द-हीन (व्याकरण से असिद्ध शब्दों का प्रयोग)।
7. यतिभ्रष्ट।

---

1. गूढ़ार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषा।। ना० शा०, 16/88
2. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च।। का० अ०, 4/1

8. भिन्नवृत्त
9. विसंधि
10. देश-काल-कला-लोक न्यायागम विरोधि-अर्थात् देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम (धर्मशास्त्र के विरुद्ध) भामह ने काव्य-न्याय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दोष-अशुद्ध प्रतिज्ञा, अशुद्ध 'हेतु' तथा अशुद्ध दृष्यंत पर आश्रित दोषों का भी विवेचन किया है। भामह ने एक अन्य स्थल पर दस ऐसे दोष बताए हैं, जिनसे कवि को बचना चाहिए, वे इस प्रकार हैं[1]–

1. नेयार्थ
2. क्लिष्ट
3. अन्यार्थ
4. अवाचक
5. अयुक्तिमत (यथा काव्य में मेघादि का सन्देशवाहकत्व)
6. गूढ़ शब्दाभिधान
7. त्रुति-दुष्ट (प्रत्यक्ष रूप से गाम्म)
8. अर्थदुष्ट=परोक्ष रूप में ग्राम्य (परवर्ती लेखकों ने इसे अश्लीलता कहा है।)
9. कल्पनादुष्ट=दोषयुक्त कल्पना, अवांछित अर्थ में दो शब्दों का सहयोजन
10. श्रुतिकष्ट।

भामह ने श्रुतिकष्ट के विषय में कहा है कि विशेष शब्द-विन्यास के कारण कभी-कभी सदोष पदावली भी स्वीकार्य हो सकती है, अर्थात् , कभी-कभी दोष भी गुण में परिवर्तित हो जाता है।[2] जबकि भरत के अनुसार गुण दोषों के विरोधी होते हैं।

---

1. नेयार्थ क्लिष्टमन्यार्थमवाचकयुक्तिमत्।
गूढशब्दाभिधानञ्च कवयो न प्रयुञ्जते।। वही, 1/37
2. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।। का० अ०, 1/54
किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।। वही, 1/55

दोषों के पश्चात् भरत ने दस गुणों का वर्णन किया है। तथा यह भी कहा है कि गुण, दोषों के विपर्यय होते हैं।[1] ये गुण इस प्रकार हैं।[2]

1. श्लेष
2. प्रसाद
3. समता
4. समाधि
5. माधुर्य
6. ओज
7. सौकुमार्य
8. अर्थव्यक्ति
9. उदारता
10. कान्ति

नाट्य से स्वतन्त्र काव्य के अलंभाव को अभिव्यक्ति करने के लिए इस काल में वक्रता, शोभा, चारुता, सौन्दर्य, अलङ्कृति आदि शब्द प्रचलित थे। भामह ने वक्रता, दण्डी ने शोभा तथा वामन ने सौन्दर्य को चुना। अलङ्कार संज्ञा तो इतनी प्रसिद्ध हुई कि बहुत समय तक शास्त्र का नाम ही इसके नाम से चलता रहा।

भारवि जिनकी एकमात्र प्रसिद्ध कृति 'किरातार्जुनीयम्' है। इस ग्रन्थ का मुख्य रस 'वीर' है। शैली ओजपूर्ण व अर्थ गाम्भीर्य से युक्त है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में उपमा, श्लेष, अनुप्रास, अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों का प्रयोग किया। भारवि ने चित्रकाव्य, लिखने में अपनी चातुरी दिखलाने के लिए एक समग्र सर्ग पंचदश ही लिख डाला है। इस सर्ग में सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्यान्य चित्र काव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। इन्होंने एक अक्षर वाला भी एक श्लोक[3] लिखा है, जिसमें 'न' के सिवाय अन्य वर्ण है ही नहीं।

भारवि ने अपने महाकाव्य में ओज गुणों का वर्णन भी बखूबी ढंग से किया है। वीर रस प्रधान काव्य होने का गौरव भारवि की रचना को ही प्राप्त है। उनका

---

1. गुणा विपर्ययादोषाम्। ना० शा०, 16/95
2. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
   अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुण दशैते।। वही, 16/96
3. ननोनन्नुनो नुन्नोनो नाना नानाननाननु।
   नन्नोऽनुन्नोननुन्नेनो नाने नानुन्ननुन्ननुत्।। कि०, 15/14

वीररसपूर्ण वर्णन इतना प्रबल है कि वह उनके अत्यन्त वासनापरक ऐन्द्रिय-शृंगार वर्णन को भी आक्रान्त कर देता है और इस महाकाव्य का प्रमुख रस[1] बन जाता है।

एक ओर जहाँ कवि 'ओज गुणों' का वर्णन करने में पटु है वहीं दूसरी ओर वे माधुर्य गुण के वर्णन में भी कम नहीं है। अपने शृंगारवर्णन में भी मानो असन्तुष्ट होकर उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्तेजक वर्णन करने में प्रवृत्त होते हैं।[2]

शृंगार के वर्णन के साथ ही मनोरम सौन्दर्य वर्णन का भी इनके कविता में कमी नहीं है। प्रकृति का, पर्वत, ऋतुओं, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का वर्णन कवि ने किया है। भारवि के वर्णन का एक उदाहरण जिसके कारण इन्हें 'आतपात्र भारवि' कहा जाता है।[3] भाषा तथा शैली की दृष्टि से भारवि की कविता अपनी सर्वोत्तम अवस्था में प्रसादगुणयुक्त है। उसमें कालिदास की तरह का प्रसादगुण नहीं मिलता किन्तु माघ की तरह विकट समासान्त पदावली का भी अभाव है। जहाँ इन्होंने छोटे समासों का प्रयोग किया है, वहाँ रचना में सरलता और सरसता प्रस्फुटित हुई है।[4]

भारवि संस्कृत के आलोचना जगत में अपने अर्थ गौरव के निमित्त नितान्त प्रख्यात है। इनका अर्थ गौरव गम्भीर अभिव्यञ्जना शैली का फल है और इस शैली में शब्द तथा अर्थ दोनों के सुडौलपन की स्निग्धता है।[5] अर्थ गौरव का महत्त्व स्वयं कवि ने स्वीकार किया है और उत्तम काव्य या वाणी के विषय में उनकी मान्यता ही यही है कि अस्पष्टता का वहिष्कार हो, अर्थ गौरव पर विशेष ध्यान दिया जाय, अर्थ में पौनरुक्त्य न हो। द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर के मुख से भीम की वाणी की प्रशंसा करते हुए कवि कहते हैं।[6] प्रथम सर्ग के एक उदाहरण में प्रत्येक शब्द अर्थ में एक

---

1. प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम्।
   अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकलः संशयमारुरोह शैलः। वही, 13/16
2. विहस्य पाणो विधृते धृताम्भसि प्रियेणा बध्वा मदनार्द्रचेतसः।
   सखीव काञ्ची पयसा धनीकृता बभार वीताच्चयबन्धमंशुकम्।। वही, 8/51
3. उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
   वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्।। वही, 5/39
4. महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
   न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम।। वही, 1/18
5. कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
   तवाभिधानाद् व्यथते नताननः सुदुः सहान्मन्त्रपदादिवोरगः।। वही, 1/24
6. स्फुटता न पदैरपाकृता न च नं स्वीकृतमर्थगौरवम्।
   रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्।। वही, 2/14

नयी बात जुड़ जाती है और उसकी गुरुता की वृद्धि करता है।[1] भारवि अर्थ के विस्तार को इतनी कुशलता से शब्दों के भीतर दबाकर रख देते हैं कि जब उन शब्दों के अर्थ पर ध्यान दिया जाता है तो एक शब्द एक लम्बे वाक्य के भाव व्यक्त करने लगता है।[2] माघ की प्रसिद्ध कृति 'शिशुपालवध' है। इनके काव्य वक्रोक्ति से मण्डित तथा शाब्दिक और आर्थिक चमत्कार के उत्पादक अलङ्कारों से सुसज्जित पदविन्यास ही माघ की दृष्टि में सच्चे काव्य का निदर्शन है। फलतः इनके काव्य में सामासों की बहुलता विकट वर्णों की उदारता, गाढबन्धों की मनोहरता पाठकों के हृदयावर्जन में सर्वथा समर्थ होती है। इनके काव्यशैली में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण समन्वित है। अलङ्कार योजना में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास प्रमुख है। माघ ने एक सच्चे कवि आलङ्कारिक ऊँचे पद से शब्द तथा आर्थ दोनों को काव्य माना है।[3] नवीन चमत्कारी उपमा का वर्णन करने में उनकी विशिष्टता है। वे प्रकृति के हृदय को ज्ञाता हैं तथा उसे मधुर शब्दों में उसे अभिव्यक्त करते हैं।[4]

भारवि के समान माघ के महाकाव्य को अर्थ गौरव की बहुलता प्राप्त होती है। इनके अनुसार कतिपय वर्णों के ही विन्यास से वाङ्मय में अनन्त विचित्रता उसी प्रकार उपजती है जिस प्रकार केवल सात स्वरों से ग्रथित होने वाला गायन अनन्त रूप से विचित्र बन जाता है।[5] शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग के एक उदाहरण में आदर्श राजा के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है।[6] माघ ने नूतन नवीन शब्दों का इतना अधिक प्रयोग किया है कि संस्कृत में यह आभाणक ही प्रसिद्ध है कि माघ के नव सर्ग बीतने पर नव शब्द मिलता ही नहीं।[7] इनके शब्दों में इतनी संगीतात्मक

---

1. असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतोऽस्य त्रिगणः परस्परम्।। वही, 1/11
2. सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतमस्यः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।। वही, 1/10
3. नालम्बते दैष्टिकतां न निषिदति पौरुष।
शब्दार्थौं सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।। शिशु०, 2/86
4. उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेष रिङ्ग् सकलमुखहासं वीक्षितः पध्मनीरीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दमन्तया वयोभिः परिपतति दिवाङ्के हेलया बालसूर्यः।। वही, 11/47
5. वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता। वही, 2/72
6. बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो धनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो इतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः।। वही, 2/82
7. नव सर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते। शिशु०

एकरसता है कि वीणा के तारों के झंकार की भाँति अर्थावबोध की प्रतीक्षा बिना किये ही वह श्रोताओं के हृदय को रसाप्लुत बना देती है।[1]

इस शास्त्र के विकास का दूसरा युग भामह तथा दंडी से प्रारंभ होता है। भरत से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र के विषय में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है। भरत और भामह के मध्य एक बहुत बड़ा अंतराल है। इसे भारतीय काव्यशास्त्र का अंधकार युग कहा जा सकता है। परन्तु भामह और दण्डी के ग्रन्थों में परम्परा का जो वैभव प्राप्त होता है, उससे इसके एक समृद्ध इतिहास का अनुमान अवश्य होता है। आचार्य भामह ने अलङ्कारों को जो विभिन्न वर्गों में रखकर प्रस्तुत किया है। उसे इनके ऐतिहासिक विकास के विभिन्न चरणों के रूप में देखा जाना चाहिए।

भामह का अविर्भाव काव्यशास्त्र के इतिहास में उस समय हुआ जब काव्यचर्चा नाट्य से पृथक् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना चुकी थी। बल्कि भामह के समय तक तो उसके विवेचन को प्रमुखता दी जाने लगी थी। नागरकगोष्ठियों में, जहाँ व्याकरण, न्याय और मीमांसा जैसे पाण्डित्यप्रधान विषयों का वर्चस्व था, काव्यसिद्धान्तों की भी चर्चा की जाती थी। ऐसे समय में भामह ने इस ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ अपनी व्यापक परीक्षण शक्ति और आलोचनात्मक विश्लेषण के कारण समर्थ होकर उत्तरवर्ती समीक्षा को प्रभावित करता रहा है। इस ग्रन्थ के माध्यम से एक ओर तो ये काव्यनिर्माण के लिए आवश्यक सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं तो दूसरी ओर उनका प्रयास गोष्ठियों में काव्यचर्चा की प्रतिष्ठा करना भी है। कभी कभी तो उनकी यह जिजीविषा अत्यन्त प्रखर और उग्र भी हो जाती है, जब वे यह कहते हैं कि शास्त्र जो जड़बुद्धि भी गुरु के उपदेश से सीख सकते हैं परन्तु काव्यत्व का स्फुरण किसी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व को ही होता है।[2] काव्य के प्रयोजनों को भी उन्होंने इसीलिए पुरुषार्थचतुष्ट्य से सम्बद्ध कर दिया।[3]

आचार्य उद्भट के सामने काव्यशास्त्र की दोनों धाराओं के प्रतिनिधि ग्रंथ भामह तथा दण्डी की कृतियों के रूप में उपस्थित थे। उन्होंने भामह की परम्परा को अपनाया। परन्तु केवल उसका अंधानुकरण मात्र ही नहीं किया उसमें स्थान स्थान पर

---

1. मधुरया मधुवोधितमाधवीमधुसमृदिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मध्वनिभृता निभृताक्षरमुञ्जरो।। वही, 6/20
2. गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत:।। का० अ०, 1/5
3. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। वही, 1/2

संशोधन और परिवर्त्तन किए। कुछ नवीन सिद्धान्तों को स्थान दिया तथा अनावश्यक विषयों को छोड़ा भी। इन सबका विशिष्ट विवेचन यथावसर प्रस्तुत किया जाएगा। यहाँ केवल इतना कहा जा सकता है कि आचार्य उद्भट काव्यशास्त्र की परम्पराओं के इस ऐतिहासिक विकास से सुतरां परिचित थे। बल्कि सत्य तो यह है कि वे इस परम्परा को दिशा देने वाले एक अधिकारी विद्वान् थे। इसके साथ-साथ उनका यह सौभाग्य भी था कि उन्हें इन्दुराज और तिलक जैसे समर्थ टीकाकार प्राप्त हुए जिन्होंने उनके मन्तव्य को सुतरां प्रकट किया।

द्वितीय अध्याय

आचार्य उद्भट और उनके टीकाकार

आचार्य उद्भट

भूमिका

अलङ्कारशास्त्र अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था से ही दो समानान्तर धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित हो रहा था। दो धाराओं में एक धारा कश्मीरी औदीच्याचार्यों की है तो दूसरी धारा दाक्षिणात्य आचार्यों की है। औदीच्य परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य भामह, उद्भट, तिलक और मम्मट आदि रहे हैं जबकि दाक्षिणात्य परम्परा के आचार्यों में दण्डी, प्रतीहारेन्दुराज, भोज और जगन्नाथ, आदि हैं। इन दोनों धाराओं के आचार्यों में विरोधी दृष्टिकोण रखने के कारण उनमें प्रारम्भिक युग से ही विरोध के संकेत मिलने लगे थे जबकि काव्य समीक्षा नाट्य से स्वतन्त्र होकर अपने अस्तित्व की पहचान बनाती हुई अभी प्रारंभिक अवस्था में थी दुर्भाग्य से उन चार-पाँच सौ वर्षों का काव्यशास्त्र का इतिहास अभी तक अन्ध तिमिराच्छन्न ही है। जबकि उस समय विद्या के क्षेत्र में एक नवीन शास्त्र का उदय हो रहा था। आज उस युग का परिचय केवल भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा राजशेखर की शास्त्रीय कृतियों तथा कुछ प्राचीन टीकाकारों के संकेत से ही प्राप्त होता है।

भामह कृत काव्यालङ्कार इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उद्भट अनेक दृष्टियों से भामह के अधर्म होकर भी गौरव के भाजन रहे हैं।

जन्म समय

उद्भट के जन्म समय के विषय में अधिक विवाद नहीं है, क्योंकि इसका स्पष्टीकरण कुछ अन्त: और बाह्य साक्ष्यों से हो जाता है–

1. आचार्य उद्भट ने भामह के काव्यालङ्कार पर टीका लिखी है। भामह का समय 600 ई० के आसपास रखा गया है, तो उद्भट का समय 600 ई० के पश्चात् होगा।

2. कल्हण ने राजतरंगिणी में भट्ट उद्भट को महाराज जयापीड़ का सभापति बताया है। महाराज जयापीड़ वि०स० 836 से 870 तक राज्य किया करते थे। शासन के अन्तिम काल में ये कुछ बदनाम हो गये थे। राजा से प्रजाओं को प्रताड़ित होते देखकर ब्राह्मणों ने उनसे सम्बन्ध त्याग दिया था। इसी कारण डॉ० याकोबी भट्ट उद्भट को इनके राज्य के पहले भाग में रखते हैं। संभवत 800 ई० के आस-पास।
3. आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ में उद्भट की चर्चा की है। आनन्दवर्धन का समय 9वीं शतक के उत्तरार्द्ध है तो उद्भट की स्थिति आनन्दवर्धन से पूर्व रखी जानी चाहिए। निष्कर्षत: उद्भट का समय 750 से 850 ई० के मध्य होगा। इस दृष्टि से भी ये लगभग 800 ई० के सिद्ध होते हैं।
4. प्रतीहारेंदुराज वामन के विचारों से सहमत थे उन्होंने 'अलङ्कार-ध्वनि' की चर्चा करते हुए स्पष्टत: कहा है कि वामन ने कुछ ऐसे अवसरों पर 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह वामन 8वीं शती और 9वीं शती के मध्य के आसपास प्रतीत होते हैं। कल्हण और कश्मीरी पंडितों का सम्मान करने वाले ऐसे वामन में अभिन्नता की जा सकती है। वामन और उद्भट एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे हैं, ऐसा परम्परा से ज्ञात होता है। अत: इन दोनों आचार्यों को लगभग 800 ई० के मानते हुए हम सत्य से अधिक दूर नहीं कहे जा सकते।

जन्म स्थान

1. आचार्य उद्भट कश्मीरी आचार्य कहे जाते हैं। क्योंकि कैयट, जैयट, मम्मट, अल्लट, क्षल्लट, कल्लट आदि नामों के आचार्य सारे कश्मीर प्रदेशीय ही हैं। इससे उद्भट का कश्मीर का होना ही सिद्ध होता है।
2. कल्हण अपने राजतरंगिणी में उद्भट को काश्मीर नरेश जयापीड़ का सभापति बताते हैं। इस कथन से भी उद्भट का काश्मीरी होना सिद्ध होता है।

व्यक्तित्व

आचार्य उद्भट बहुत बड़े विद्वान् थे, इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि ये काश्मीर राज जयापीड़ की सभा के सभापति थे और इनका दैनिक वेतन एक लक्ष दीनार था। इसका उल्लेख कल्हणकृत राजतरंगिणी में प्राप्त होता है।[1] आचार्य

---

1. विद्वान दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः।। रा० त०, 4/495

आनन्दवर्द्धन ध्वन्यालोक में रूपकादि अलङ्कार तथा प्रतीयमानार्थ के सन्दर्भ में आचार्य उद्भट का उल्लेख करते हैं।[1] उन्होंने उन्हें अलङ्कार तंत्र प्रजापति शब्द से बोधित किया।[2] आनन्दवदर्धन के ध्वनि सिद्धान्त के बाद भी उद्भट की ऐसी महत्ता थी कि प्रतीहारेंदुराज ने बड़ी आस्था के साथ आचार्य उद्भट का ही समर्थन किया। पण्डितराज जगन्नाथ जो कि अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों की आलोचना करने में नहीं चूके, वे भी उद्भट का नाम बड़े सम्मान के साथ लेते हैं।

समसामयिक आचार्य

राजा जयापीड़ का विद्वतप्रेम प्रसिद्ध है। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर राज जयापीड़ की शासनावधि में अनेक विद्वान् थे जिनके मध्य उद्भट एक श्रेष्ठ सभापण्डित थे। उनकी सभा में कवियों के रूप में मनोरथ, शंखदत्त, चटक एवं संधिमान, तथा मंत्रियों में वामन का महत्त्वपूर्ण स्थान था।[3] कुट्टनीमत के प्रणेता दामोदरभट्ट भी उसी काल के थे।

कृतियाँ

उद्भट के अब तक तीन ग्रंथों का ही पता चल पाया है। चौथा ग्रंथ नाट्यशास्त्र की टीका है।

भामह विवरण : आचार्य उद्भट का भामह-विवरण टीका जो उन्होंने भामहकृत काव्यालङ्कार पर लिखी थी। ये रिएनरो नोली को ब्राह्मी लिपि में खण्डित और दग्ध अवस्था में प्राप्त हुई थी। उन्होंने इस खण्डित अवस्था में प्राप्त सामग्री को रोमनलिपि में सम्पादित कर दिया थी। उसे ही देवनागरी में लिप्यन्तरित करके डॉ० रमण कुमार शर्मा ने भामहकृत काव्यालङ्कार के परिशिष्ट में दिया था जो कि विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली से 1994 में प्रकाशित हुआ। जिस अवस्था में यह ग्रन्थ रिएनरो नोली को प्राप्त हुआ था, उससे उसके अध्ययन के लिए विशेष सहायता नहीं मिलती फिर भी कई स्थलों में कुछ संकेत प्राप्त हो जाते हैं। यथा-कारिका संख्या 1/9 में प्राप्त

---

1. अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। ध्व० आ०, 108
2. इह हि चिरन्तनैलङ्कारतन्त्रप्रजापतिभट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दधर्मा एवालङ्काराः प्रतिपादिता नाभिधाधर्मा। व्य० वि०, पृ० 3
3. मनोरथः शंखदत्तश्चटकः संधिमान् तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्यश्च मंत्रिणः।। रा० त०, 4/497

'काव्यहेतवः'[1] पाठ इस दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि काव्यालङ्कार के प्राप्त संस्करणों में इसके स्थान पर आठ अन्य पाठ मिलते थे। इसमें कुछ काणिकाएँ तो ऐसी हैं जिनका एक अथवा आधा शब्द अथवा एकाध अक्षर व मात्रा ही उपलब्ध हो पायी। काव्यालङ्कार के प्रथम परिच्छेद की 9वीं कारिका में 'अभिधानार्था' पद का व्याख्यान 'शब्दानामर्थाः' इस प्रकार उपलब्ध हुआ है तथा इस सन्दर्भ में अभिधा और गुणवृत्ति का भी उल्लेख किया गया है। अन्यार्थ दोष के विषय में वाक्यपदीय की कारिका 'अस्वगोण्यादयश्शब्दास्साधवो विषयान्तरे' उद्धृत की गयी है। इसका आशय है कि अश्व, गोणी आदि शब्दों को भी सर्वथा असाधु नहीं कहा जा सकता। किसी दूसरे अर्थ के वाचक के रूप में यही शब्द साधु भी हो सकते हैं। परन्तु अश्व, गो इन अर्थों में इनका प्रयोग अन्यार्थ नामक दोष है।

विशेषोक्ति के लक्षण को स्पष्ट करते हुए भट्टोदभट ने भामह विवरण में 'एकदेश' शब्द की जो व्याख्या की है-उसका मूल उद्भट के कथन में निहित है। लक्षण है-प्रधान वाक्यार्थ का विगमन हो जाने पर विशेष अर्थ का प्रसाधन करने के लिए जो अन्य गुण का कथन किया जाता है, वही विशेषोक्ति है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि भामह विवरण नाम का ग्रन्थ भट्ट उद्भट ने लिखा था। इस वक्तव्य की पुष्टि अभिनवगुप्त भी कई स्थानों पर करते हैं। इसी प्रकार एक स्थान पर यह उल्लिखित है कि शब्द और छन्द के अभिधान अर्थ से अभिधान के शब्द से भेद की व्याख्या करते हए भट्ट उद्भट बोले[3] इन्दुराज ने भी कुछ इस प्रकार वर्णन किया है-शृंगार आदि पाँच उपकरणों द्वारा प्रतीति होती है। भट्टोद्भट ने जैसा कि कहा भी है-रस के पञ्चरूप होते हैं-इस प्रसंग में स्व शब्द शृंगारादिबोधक शब्द ही है।[4] हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की अलङ्कार चूड़ामणि नाम की टीका में भट्ट उद्भटकृत भामह विवरण का अनेक बार

1. शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः।। का० अ०, 1/9
2. एकदेशवृत्तीत्यत्र हि एकदा अन्यदा ईशः प्रभविष्णुर्यो वाक्यार्थस्तद्वृत्तित्वं रूपकस्याभिमतम्। विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः तत्र विशेषोक्तिलक्षणं 'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः। विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा। का० सा० सं०, 1/27 पर ल० वृ०।
3. भामहोक्तं शब्दच्छन्दोभिधानार्थ इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे। ध्व० लो०, पृ० 159
4. एषां च शृंगारादीनां नवानां रसानां स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरवगतिर्भवति। यदुक्तं भट्टोदभटेन पञ्चरूपा रसाः इति। तत्र स्वशब्दाः शृंगारादेर्वाचका शृंगारादयः शब्दाः। का० सा० सं०, 4/5 पर ल० वृ०

उल्लेख करते हैं।[1] रुय्यक अलङ्कार सर्वस्व में भामह विवरण का 'भामहीय उद्भट लक्षण' कहकर उल्लेख करते हैं।[2] अलङ्कार सर्वस्व टीका में समुद्रबन्ध इसे 'काव्यालङ्कार विवृति' कहते हैं।[3]

उद्भट की यह टीका आज यदि पूर्ण रूप में प्राप्त हो जाए तो अनेक नवीन तथ्य उजागर हो सकते हैं क्योंकि दण्डी ने भामह और उनकी परम्परा पर जिस प्रकार दोष आरोपित किए हैं तथा वामन ने जिस प्रकार से दक्षिणी परम्परा को एक नए रूप में प्रस्तुत किया है इस दिशा पर भामह विवरण एक सही दिशा निर्देश कर सकता है।

कुमारसम्भव-आचार्य उद्भट का दूसरा ग्रंथ 'कुमारसंभव' है। इंदुराज की लघुवृत्ति में एक स्थान पर यह वर्णित है कि इस ग्रंथकार के द्वारा स्वरचित 'कुमारसंभव' कुछ पद्य यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।[4] उद्भट ने कुमारसंभव में जो उदाहरण दिए हैं इसे अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः कालिदास के कुमारसंभव से प्रभावित हो। इन दोनों की कृतियों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है।

नाट्यशास्त्र-टीका

संगीतरत्नाकर में यह उल्लेख है कि आचार्य उद्भट ने नाट्यशास्त्र पर भी एक टीका लिखी थी। वहाँ नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं, में आचार्य उद्भट का भी परिगणन है।[5] दशरूपक में धनञ्जय ने चार वृत्तियों को मानते हुए उद्भट के अनुयायियों की पाँचवीं वृत्ति अस्वीकार की है। नाट्यमाता वृत्तियों पर हुए विचार से यह स्पष्ट होता है कि उद्भट ने नाट्यशास्त्र पर व्याख्या की थी क्योंकि नाट्यवृत्तियों संबंधी विवेचन की संभावना न ही कुमारसंभव से की जा सकती है और न ही काव्यालङ्कारसारसंग्रह तथा भामह विवरण से। अभिनवगुप्त ने भी इस सन्दर्भ में यह उद्भट के मन्तव्य को

---

1. इह तूभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय तस्मातगड्डुरिकाप्रवाहेण गुणालङ्कारभेदः इति भामहविवरणे यद्भट्टोद्भटोऽभ्यधात तन्निरस्तम्। का० अनु०, पृ० 20
2. इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालङ्कारकाराः प्रतीयमानमर्थ वाच्योपस्कारकतयालङ्कारपक्ष निक्षिप्तं। अ० स०, पृ० 3
3. उद्भटेन च काव्यालङ्कारविवृत्तौ...... श्रीरस्थिरेत्यर्थोभिहितः। अ० स०, पृ० 89
4. अनेन ग्रंथकृता स्वोपरचितकुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्तः। का० सा० सं०, 1/31 पर ल० वृ०
5. व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्ताश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः। सं० र०, 1/19

उद्धृत किया है।[1] भोज ने भी शृंगार प्रकाश में उद्भट के मत को ही स्वीकार कर दशरूपोपयोगी पंचवृत्तियों का उल्लेख करते हुए यह कहा कि पाँचवीं वृत्ति मिश्र नामक अर्थवृत्ति है। इस वृत्ति की चर्चा भरत ने नहीं की। धनञ्जय ने भी उनका खण्डन किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आचार्य उद्भट ही नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार रहे होंगे जहाँ यह प्रसङ्ग प्राप्त है।

काव्यालङ्कारसारसंग्रह

आचार्य उद्भट का वास्तविक कीर्तिस्तम्भ 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' ही है। इसकी खोज डॉ० बूहलर ने काश्मीर में की थी और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्ट में दिया था। इसका अनुवाद कर्नल जैकब ने नागरी लिपि में प्रस्तुत किया, जो ज०रो० ए०सो० 1897 में प्रकाशित हुआ।

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' इस नामकरण में काव्यालङ्कार शब्द में संभवतः षष्ठी तत्पुरुष समास का प्रयोग किया गया है।[2] इसलिए इसमें केवल अलङ्कारों का ही विवेचन किया गया है। उद्भट ने अपने ग्रंथ में केवल अलङ्कारों को ही प्रधानता दी, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि भामह के ग्रन्थ पर टीका करते हुए उन्होंने अन्य विषयों पर विस्तृत रूप से अपने अभिमत को प्रस्तुत कर दिया था जिसे फिर से व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। क्योंकि वह एक प्रकार से षिष्टपेषण ही होता। इस ग्रंथ में अलङ्कारों का ही विवेचन करने का अभिप्राय यह भी है कि एक तो यह काव्यचिन्तन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण् विषय है। दूसरे भामह और उद्भट की समयावधि में अनेक आलङ्कारिकों ने कई प्रकार के परस्पर विरोधी मत अलङ्कारों के सम्बन्ध में प्रस्तुत किए थे। अनेक नूतन अलङ्कारों की खोज हो गयी थी तथा भामह के द्वारा अभिमत अनेक अलङ्कारों पर इन नवीन आचार्यों ने प्रश्न चिह्न लगा दिये थे। कुछ अलङ्कारों के स्वरूप तथा भेदविस्तार को लेकर काव्यचिन्तन

---

1. तस्माच्चेष्टात्मिका न्यायवृत्तिरन्यायवृत्तिर्वाग्रूपा तत्फलभूता फलसंवित्तिरिति वृत्तित्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते।
   यदाह-
   आद्ये वाक्चेष्टाभ्यां पुरुषार्थचतुष्टयेन चाष्टविधे।
   षोडशधा फलवृत्तिस्तद्द्वयतोऽनेकधा तु रसभेदात्।।
   ना० शा० अष्टादश-अध्याय, पृ० 333, परिमल पब्लिकेशन्स।
2. काव्यस्य येऽलङ्काराश्शोभाधायकास्तेषां सारसंग्रह। का० सां० सं०, वि० नि० प्र०, भूमिका, पृ० (vii)

बहुत विकास कर चुका था। इस विषय पर केवल भामहविवरण अपने आप में पूर्ण नहीं है, इसलिए अलङ्कारों से सम्बन्धित अपनी नवीन स्थापनाओं को समायोजित करने के लिए आचार्य उद्भट ने इस ग्रन्थ की रचना की।

इस ग्रन्थ का विभाजन छः वर्गों में किया गया है। 79 कारिकाओं द्वारा 41 अलङ्कारों के लक्षण दिए गए हैं। संभवतया 90 से भी अधिक उदाहरण दिए गए हैं, जो कि इन्दुराज के कथनानुसार इनके दूसरे ग्रंथ कुमारसंभव से लिये गये हैं।[1] हो सकता है कि उद्भट ने उदाहरणों के लिए की कुमारसंभव ही रचना की हो।

अलङ्कारों का इस प्रकार विभाजन किया गया है-

प्रथम वर्ग- पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, त्रिविध अनुप्रास परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला, लाटनुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक (आदि, मध्य, अन्त), प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग-आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग- यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग- प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (द्विविध), श्लिष्ट।

पंचम वर्ग- अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर (चतुर्विध), परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग- अनन्वय, ससंदेह, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्यांत।

उद्भट ने भामह के अनुसार ही अलङ्कारों के लक्षण गिनाएँ हैं, परन्तु उद्भट ने भामह के कुछ अलङ्कारों को छोड़ दिया वे इस प्रकार है-यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव। उद्भट ने कुछ नवीन अलङ्कारों का भी समावेश किया हैं जो भामह के ग्रंथ में नहीं है वे इस प्रकार है-पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यलिंग तथा दृष्टान्त। आचार्य उद्भट ने निदर्शना के दो भेद गिनाये हैं परन्तु उदाहरण केवल एक भेद का दिया है। विवृत्ति टीका में यह उल्लेख है कि उद्भट के ग्रन्थ में निदर्शना के दूसरे भेद का उदाहरण नहीं मिलता।[2] इसे भामह के काव्यालङ्कार से ग्रहण किया जाता है।

उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह तथा भामह के काव्यालङ्कार का अध्ययन

---

1. अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसम्भवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्तः। तत्र पूर्व दीपक स्योदाहरणानि। तदनुसन्धानाविच्छेदायात्र उद्देशक्रमः परित्यक्तः। उद्देशस्तु तथा न वृतो वृतभङ्ग्यात्। वही, 1/31 पर ल० वृ०
2. गा० ओ० सी० संस्करण, पृ० 45

करने से यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों ग्रंथों के कुछ अलङ्कारों के लक्षण करीब एक हैं-आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह, अनन्वय। कुछ ऐसे अलङ्कार हैं। जिनमें कुछ समानता है। यथा-अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि। भामह अनुप्रास की दो वृत्तियाँ मानते हैं- ग्राम्यावृत्ति तथा उपनागरिका वृत्ति। उन्होंने रूपक के भी दो भेद बताएँ हैं। जबकि उद्भट ने अनुप्रास के तीन भेद बताए हैं, दो भामह के ही हैं तीसरा इन्होंने परुषा वृत्ति बताया है। रूपक के चार भेद बताएँ।[1] इसी प्रकार भामह ने श्लेष के तीन प्रकार बताए जबकि उद्भट दो को ही स्थान देते हैं।[2]

आचार्य उद्भट बहुत बड़े आलङ्कारिक थे, जिसका प्रमाण हमें उनकी कृतियों से प्राप्त होता है। सर्वप्रथम उद्भट ने उपमा के व्याकरणाश्रित भेदों की चर्चा की और काव्यसिद्धांत में इन्हीं के बताए हुए भेदों को मान्यता प्राप्त हुई। उद्भट ने काव्यलिंग तथा काव्यदृष्यंत व काव्यहेतु अलङ्कारों का सोदाहरण विवेचन किया जबकि भामह ने इसकी कोई चर्चा नहीं की है, जिन्हें दंडी द्वारा निर्देशित किया गया था, उन्होंने स्पष्ट रूप में संसृष्टि को संकर से भिन्न बताते हुए संकर के चार भेद बताए हैं। काव्य सिद्धांत के विभिन्न मत मतांतरों में आचार्य उद्भट के विचारों को सम्मानपूर्वक अपनाया गया है। भामह प्राचीन आचार्य होने के कारण आदर के योग्य हैं। परन्तु उद्भट की ख्याति उनसे कहीं अधिक है। मम्मट तथा रुय्यक दोनों ही आचार्य उद्भट से काव्यविद्या संबंधी मीमांसा में मार्ग दर्शित हुए थे।

भामह की परम्परा को प्रचलित रखने तथा उनके मतों को व्यवस्थित रूप में व्याख्या करने का श्रेय उद्भट को ही जाता है। जिस समय दंडी के द्वारा निर्देशित मार्ग पर वामन रीति-सिद्धांत को व्यवस्थित करने में व्यस्त थे, उसी समय उद्भट ने कश्मीर में काव्य-विद्या में अलङ्कार सिद्धांत का प्रतिष्ठापन किया था। वामन और उद्भट इन दोनों ने मिलकर आनंदवर्धन को मार्ग दर्शित किया। उद्भट तथा दंडी एवं रुद्रट ने काव्यालङ्कारों के सूक्ष्म रूप में विश्लेषण तथा भेद-निरूपण का अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। इन्दुराज का कथन है कि अर्थभेद से शब्दों का भेद होता है, यह

---

1. भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासंव्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्। का० सा० सं०, 2/2 पर ल० वृ०
2. भामहो हि 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा।'
इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह। वही, पृ० 47

भट्टोदभट का सिद्धान्त है।[1] श्लेष के दो भेद बताए हैं- शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। दोनों श्लेष को अर्थालङ्कार में रखते हैं।[2] ये श्लेष को प्रधान अलङ्कार बताते हैं और इसे सभी अलङ्कारों का बाधक कहा है।[3] इन्होंने अभिधा व्यापार तीन प्रकार के कहे हैं।[4] अर्थ के दो भेद हैं-अविचारित सुस्थ और विचारितरमणीय।[5] गुणों को संघटना धर्म कहा है।[6] मम्मट ने उद्भट के श्लेष का दो भेद होने का खण्डन किया है।[7] व्याकरण पर आधारित उपमा के उत्तरवर्ती भेदों का निरूपण इन्होंने गहनता के साथ किया है। इसका उल्लेख मम्मट ने भी किया है।[8] उद्भट ने अपने काव्यालङ्कारसारसंग्रह में रसवत् आदि अलङ्कारों के प्रसङ्ग में रस तथा भाव के संबंध में विस्तार से चर्चा की है-इनके मत के अनुसार श्रृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति तत् तत् शब्दों द्वारा चार अन्य प्रकारों से होती है-यह रसवत् अलङ्कार स्पष्ट रूप में श्रृंगार आदि रसों के सद्भाव पर निर्भर है। स्ववाचक शब्द, स्थायी, संचारी, (अनुभाव) तथा विभाव युक्त काव्य में ही औपचारिक रूप से रसवत्ता संभव है।[9] परन्तु मम्मट के अनुसार रस की अभिव्यक्ति के लिए श्रृंगार आदि शब्दों का प्रयोग दोष है।[10] चूँकि रसमय काव्य ही जीवित काव्य कहा जाता है अतः रसादि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित मानना चाहिए।[11] उद्भट ने जिस परम्परा को अपनाया है यह श्लोक उसके विपरीत है।

संस्करण

1. आचार्य उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह का प्राचीनतम संस्करण कर्नल

---

1. अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्त इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः। वही, 2/24 पर ल० वृ०
2. का० प्र०, नवम उल्लास।
3. ध्व० आ०, पृ० 96
4. का० मी०, पृ० 22
5. का० मी०, पृ० 44, व्य वि०, पृ० 4
6. ध्व० लो०, पृ० 134
7. शब्दश्लेष इति चोच्यते, अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति नोयं नयः। का० प्र०, 9, पृ० 527 (वा०)
8. का० प्र० (1, सा० द०, पृ०, 105)
9. रसवत्...... स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्। का० सा० स०, 4/4
10. व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता...... रसे दोषाः स्युरीदृशा। का० प्र०, 7/12, 14
11. रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
    कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।। का० सा० सं०, 6/14 पर ल० वृ०

जैकब के द्वारा जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1987 में (पृ० 829-53) रोमन लिपि में प्रकाशित हुआ था।

2. प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति टीका के साथ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से इसके दो संस्करण प्रकाशित हुए जिसका सम्पादन मङ्गेश रामकृष्ण तैलङ्ग ने 1915 तथा 1925 में किया।

3. प्रतीहारेन्दुराज की टीका के साथ ही इसका एक संस्करण एन०डी० बनहट्टी के द्वारा अंग्रेजी भूमिका और नोट्ससहित पूना से 1925 में प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट से किया गया।

4. लघुवृत्ति के साथ ही एक संस्करण श्री राममूर्ति त्रिपाठी के द्वारा भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से 1966 में प्रकाशित किया गया। इसमें विस्तृत हिन्दी भूमिका तथा लघुवृत्ति का अनुवाद भी है।

5. अज्ञातनामधेया के टीका के साथ काव्यालङ्कारसारसंग्रह का एक संस्करण 1931 में गायकवाड़ सीरीज से श्री के०एस० रामस्वामिशास्त्री के द्वारा सम्पादित हुआ। इस टीका को इन्होंने संस्कृत भूमिका में राजानकतिलक-कृत उद्भटविवेक सिद्ध किया गया है।

6. काव्यालङ्कारसारसंग्रह का नवीनतम संस्करण विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली से 2001 में डॉ० रमण कुमार शर्मा के द्वारा सम्पादित किया गया है। इसमें हिन्दी भूमिका के साथ-साथ काव्यालङ्कारसारसंग्रह का अनुवाद तथा दोनों टीकाएँ संयोजित की गयी हैं।

प्रतिहारेन्दुराज

भूमिका

प्रतीहारेन्दुराज की प्रतिष्ठा आचार्य उद्भट के टीकाकार के रूप में है। अब तक आचार्य उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर केवल दो ही टीकाएँ उपलब्ध हुईं। इनमें से 'लघुवृत्ति' नामक टीका के लेखक प्रतीहारेन्दुराज अपेक्षाकृत प्राचीनतर हों दूसरे टीकाकार राजानक तिलक निश्चय ही उत्तरवर्ती हैं क्योंकि उन्होंने एकाधिक स्थलों पर लघुवृत्ति टीका का उल्लेख किया। उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर और भी टीका ग्रंथ रहे होंगे क्योंकि आचार्य उद्भट अपने युग के प्रतिष्ठित आचार्य थे तथा

उनके अनुयायियों का बहुत बड़ा वर्ग भी था परन्तु वे टीकाएँ अब उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु प्रतीहारेंदुराजकृत लघुवृत्ति विषय की गहनता, प्रामाणिकता तथा अपनी प्रतिष्ठा के कारण विद्वज्जनों के द्वारा समादृत होती रही है।

प्रतीहारेन्दुराज अपने युग के उद्भट तथा ख्यातनामा आचार्य थे। विशेषरूप से अलङ्कारशास्त्र पर इनके पास एक गंभीर अंतर्दृष्टि है। अपने युग में मान्य अन्य रस, ध्वनि तथा गुणों का उल्लेख करने का लोभ ये रोक नहीं सके, यद्यपि अलङ्कारों की टीका करते हुए उनका प्रसंग भी नहीं था। ध्वनिं, सिद्धान्त से इनका विशेष मोह नहीं है फिर भी अलङ्कारशास्त्र में इसकी समुचित स्थिति इन्होंने अवश्य स्पष्ट की।

प्रतीहारेन्दुराज और भट्टेन्दुराज

इतिहास से प्राप्त जानकारी के अनुसार इंदुराज के विषय में सर्वसम्मत जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस पर विवाद है कि यह एक ही व्यक्ति है या दो अलग-अलग व्यक्ति हैं।

पी०वी० काणे ने प्रतीहरेन्दुराज तथा भट्टेंदुराज को भिन्न-भिन्न माना है कारण बताते हुए कहते हैं कि प्रतीहारेन्दुराज के मत से भिन्न अभिनवगुप्त ने ध्वनि के विषय में बताया है। परवर्ती काव्यों में इस कथन पर कोई शंका नहीं, क्योंकि कवि सदैव इंदुराज[1] अथवा भट्टेन्दुराज कहा गया है। क्षेमेन्द्र के दो ग्रंथों[2] और शार्ङ्गधर, वल्लभदेव और जल्हण के काव्य संग्रहों[3] में निर्देशात् किया गया है। अलङ्कार सर्वस्व के समुद्रबन्ध[4] टीकाकार ने उपर्युक्त दोनों इंदुराज को यानि प्रतीहारेन्दुराज भट्टेन्दुराज कहा है। समुद्रबन्ध के प्राप्त जानकारी के आधार पर भट्टेन्दुराज और उद्भट के बीच सम्बन्धों की जानकारी मिलती है। लघुवृत्ति से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रतीहारेन्दुराज[5] श्री इंदुराज[6] तथा भट्टेन्दुराज सभी एक ही व्यक्ति

---

1. इंदुराज के दो पद्य नाट्यशास्त्र के संस्करण में 287 और 306 पर प्राप्त होते हैं।
2. 'औचित्य विवेचन', श्लोक 25, 31। 'सुवृत्ततिलक' श्लोक, 2, 24, 29, 30
3. 'सुभाषितावली' 918, शार्ङ्गधर पद्धति (1052) में 'परार्थे यः पीडां' पद्य इंदुराज रचित माना गया है, आनंदवर्धन ने इसका दो बार (अज्ञात लेखक) उल्लेख किया है।
4. Reference found in HSP, P.V. Kane, pp. 206-7
5. विद्वदग्रथान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते।
   प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः।। का० सा० सं०, 1/3
6. श्रुत्वासौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात्कीर्तिल्क्यात्भवात्काव्यलङ्कारसारे लघुविवृतिमघात्कौकंणः श्रीन्दुराजः। वही

है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि ये साधारण उपसर्ग तथा श्री, महा, प्रतीहार ये सभी इंदुराज के लिए ही आए हैं। जिन विद्वानों ने इन्हें अलग-अलग माना है उनके पास पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। मुकुन्द माधव शर्मा भी इस कथन की पुष्टि करते हैं कि भट्ट शब्द का अर्थ है एक सम्मानित व्यक्ति या विद्वान् शिक्षक अर्थात् विद्वान् पुरुषों के लिए ही भट्ट[1] शब्द का प्रयोग किया जाता है। अभिनवगुप्त ने भट्ट शब्द का प्रयोग सम्मान देने के ख्याल से किया है और इस तरह उन्हें भट्टेन्दुराज कहा है यथास्मदुपा-ध्यायभट्टेन्दुराजस्य।[2] अलङ्कार सर्वस्व पर टीका करते हुए जयरथ ने भट्टेन्दुराज के नाम का उल्लेख किया है। पंचम वर्ग की पुष्पिका में स्वयं इन्होंने अपने लिए महाश्री[3] उपाधि का उपयोग किया है।

समय

प्रतीहारेन्दुराज के समयावधि को लेकर कोई ज्यादा विवाद नहीं है।

1. इन्होंने काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर लघुवृत्ति नामक टीका लिखी। इससे यह प्रमाणित होता है कि इनकी अवधि उद्भट के पश्चात् है। उद्भट का समय 750 ई० से 850 ई० के अंतर्गत है तो प्रतीहारेन्दुराज उद्भट के पश्चात् है।
2. प्रतीहारेन्दुराज के गुरु जो कि 'अभिधावृत्तिमातृका' के प्रणेता भट्टमुकुल थे।[4] भट्टमुकुल कल्लट के पुत्र थे। कल्लट अवन्तिवर्मा के राज्य में थे।[5] अवन्तिवर्मन की राज्य तिथि 857-884 तक रखा जाता है तो इस प्रकार से मुकुल का समय 9वींशती का अंत तथा दशम की शुरुआत होगी। मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय 950 ई० के लगभग रखा जा सकता है।
3. अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ लोचन में अस्मादुपाध्याय और भरत पर

---

1. भट्ट-सम्मानित विद्वान् या अध्यापक की उपाधि। सं० शं० कौ०, पृ० 818
2. यथास्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराज। का० सा० सं०
3. (इति) महाश्रीप्रतीहारेन्दुराजविरचितायामुद्भयलङ्कारसारसंग्रहलघुवृत्तौ। का०सा०सं०, 5 वर्ग की पुष्पिका।
4. विद्वदग्र्थान्मुकुलाधिगम्य विविच्यते।
   प्रतीहारेन्दुराज-वही, 1/3
5. अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्री कल्लटादयः।
   अवन्ति वर्म्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्।। रा० त०, 66

अपनी टीका में केवल 'उपाध्याय' कहकर उनका उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ लोचन[1] में अपने गुरु के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट की है। एक स्थान पर उन्होंने प्रतिहारेन्दुराज को 'विद्वान' कवि सहृदय चक्रवर्ती' की उपाधिदी है।[2] इंदुराज ने अपनी टीका 'लघुवृत्ति' में भामह, दंडी, वामन, ध्वन्यालोक और रुद्रट के उद्धरण अधिकांशत: नाम के साथ उद्धृत किए हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इंदुराज ध्वनि-सिद्धांत से परिचित थे किन्तु उसके अनुयायी नहीं थे। इस तरह इंदुराज का समय अभिवगुप्त के पूर्व ही रहा होगा अर्थात् 10वीं सदी के आस-पास।

जन्मस्थान

प्रतीहारेन्दुराज महाराष्ट्र के निकट कोंकण प्रदेश के निवासी थे जो अध्ययन के लिए कश्मीर चले गये थे। वहाँ इन्होंने काव्यशास्त्र का अध्ययन अपने युग के उद्भट आचार्य मुकुलभट्ट से किया था।[3] पी० वी० काणे[4] और एस०के०डे० जैसे विद्वानों ने उनके जन्मस्थान के संबंध में यह विचार रखा है कि वे कोंकणी थे।[5] यह कोंकण महाराष्ट्र के पास है।

पितृवंश

'भगवद्गीता'[6] पर अभिनव की टीका से प्रतीत होता है। कि भट्टेन्दुराज, श्रीभूतिराज के पुत्र और कात्यायन-गोत्रोत्पन्न सौचुक के पौत्र थे।[7]

---

1. सं० काव्यमाला पृ० 1 और जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेंट ऑफ लैटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय 1922, पृ० 42, Some Problems of Sanskrit Poetics S.K De., पृ० 245 में पुनर्मुद्रित
2. विद्वत्वकविसहृदयचक्रवर्ती। ध्व० लो०, पृ० 160
3. विद्वद्ग्रथन्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते। का० सा० सं०, 1/3
4. Though भट्टेन्दुराज and प्रतीहारेन्दुराज both of them, were well versed in Alamkara Sastra and flourished nearly at the same time, they must be regarded as distinct identity P.V. Kane, H.S.P, p. 205.
5. श्रुत्वा सौजन्य सिन्धीद्विंजवरमुकुलात्कीर्तिवल्यारुवालात्। काव्यलङ्कारसारे लघुविवृत्तिमघात्कोंकण: श्रीन्दुराज:। का० सा० सं० षष्ठ वर्ग, पृ० 432
6. बूहलर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 30 और CXIXII-VIII
7. भट्टेन्दुराजादाम्नायं विविध च चिरं धिया कृतोऽभिनवमुक्ति। सोऽयं गीतार्थ संग्रह:। अभिनवगुप्त, भगवद्गीताटीका, नि० स० प्र०, पृ० 9

गुरुशिष्यपरम्परा

संस्कृत काव्यशास्त्र को प्रतीहारेन्दुराज का अधर्मण कहा जा सकता है क्योंकि इन्होंने काव्यशास्त्र की परम्परा में अभिनवगुप्त जैसे आचार्य को शिक्षा दी थी। गुरुपरम्परा में प्रतीहारेन्दुराज ने मुकुलभट्ट से ज्ञान अर्जन किया था। मुकुलभट्ट व्याकरण, न्याय और मीमांसा जैसे शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे साथ ही साथ साहित्यशास्त्र के भी मर्मज्ञ थे। ऐसे गुरु से ज्ञान प्राप्त कर प्रतीहारेन्दुराज ने शिष्यपरम्परा में अभिनवगुप्त जैसे आचार्य उत्पन्न किये थे।[1]

व्यक्तित्व

प्रतीहारेन्दुराज की गणना श्रेष्ठ आचार्यों में की जा सकती है। ये काश्मीर में रहकर साहित्य का अध्ययन करते हुए भी इनकी मनोभावना दक्षिण भारतीय परम्परा के आलोक में काव्यालङ्कारसारसग्रह की व्याख्या प्रस्तुत की। इनके समयावधि में ही ध्वनि सम्प्रदाय का प्रारंभ हो गया था परन्तु वे उससे अधिक सहमत प्रतीत नहीं होते।[2] रस के संबंध में व्याख्या करते हुए इसे काव्य की आत्मा कहा है।[3] गुणों में इन्होंने प्रसाद को तीनों गुणों से श्रेष्ठ माना है क्योंकि प्रसाद गुण रसाभिव्यक्ति का स्रोत है।[4] इन्दुराज को भामह की गुणसंबंधी धारणा ग्राह्य नहीं है। उद्भट का विवेचन वामन के आलोक में करते हुए इन्होंने अपने मत को स्पष्ट कर दिया है। इंदुराज ने आनंदवर्धन के ध्वनि सिद्धांत के बारे में एक स्थान पर कहा है-ध्वनि, जिसे कुछ चिंतकों ने काव्य का प्राण माना है, उसे कुछ चर्चाधीन अलङ्कारों के विवेचन के अंतर्गत, उसके लेखक उद्भट ने शामिल कर लिया है। इसलिए इसका अलग से वर्णन करना आवश्यक नहीं समझा।[5]

लघुवृत्ति

प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति टीका एक विद्वतापूर्ण टीका है। इसमें प्रत्येक अलङ्कार के लक्षण की व्याख्या उसके एक पद की सार्थकता को स्पष्ट करके की गयी है।

---

1. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास हृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्। यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामिकाव्यालोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य। ध्व० लो०, उद्योत I
2. कैश्चित्सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहित: स कस्मादिह नोपदिष्ट:। उच्यते। एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्। का० सा० सं०, 6/17 पर ल० वृ०
3. तस्माद्रसानां काव्यशरीरभूतशब्दार्थविषयंतयात्मत्वेनावस्थानं न त्वलङ्कारता। वही, 6/14 पर ल० वृ०
4. तदेतेषां त्रयाणां गुणानां मध्यात्प्रसादस्य प्राधान्यम्। वही
5. ल० वृ०, पृ० 79

इंदुराज काव्य का स्वरूप बताते हुए कहते हैं–काव्य सरस होता है, क्योंकि उसके शब्दार्थरूप शरीर का गुण द्वारा संस्कार होता है।[1] इंदुराज भामह के अनुसार तीन गुण मानते हैं। इन्होंने वामन के गुणों की संख्या को नहीं माना है। इनका कथन है कि रस काव्य के अलङ्कार हैं।[2] फिर जब रस अलङ्कार है, तब निरलंकृत का उदाहरण देना कहाँ तक उचित है? इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि समस्त ध्वनिवादी एवं रसवादी मानते हैं कि काव्य का रस से अलङ्कारालङ्कार्यभाव नहीं बल्कि आत्मशरीरभाव सम्बन्ध है।[3] उन्होंने यहाँ अलङ्कार न कहकर उसे काव्य की आत्मा के रूप में सम्बोधित किया है। यथा–चूँकि रसमय काव्य ही जीवित काव्य कहा जाता है। अतः रसादि को काव्य की आत्मा के रूप में ही प्रतिष्ठित मानना चाहिए। इस प्रकार के भेद की अविवक्षा के कारण ही पहले रस आदि को अलङ्कार कहा गया है।[4] इंदुराज कहीं अलङ्कारवादियों की तरह रस को अलङ्कार कहते हैं और कहीं रसवादियों के साथ उसे काव्य की आत्मा कहते हैं। इस अतंर्विरोध को स्वयं ही स्पष्ट करते हुए कहा है कि पहले जो रसादि को अलङ्कार कह दिया गया है। वहाँ इस प्रकार के भेद की विवक्षा के नहीं होने से।[5] ये अनुप्रास में वर्णों का रसानुगुण प्रकृष्ट उपन्यास मानते हैं। वृत्यनुप्रास के तीन भेद–परुषा, कोमला एवं उपनागरिका, ये भेद रसानुगुण वर्णयोजना की ही दृष्टि से रखे गये हैं।[6]

इंदुराज ने प्रायः उद्भट के मत का अनुकरण ही किया है और उनकी लघुवृत्ति में उद्भट के वास्तविक आशय को स्पष्ट किया है। परन्तु यह अन्धानुकरण नहीं कहा जा सकता। कई स्थलों पर इन्होंने अपना मौन विरोध भी प्रकट कर दिया है इंदुराज ने ध्वनि की स्पष्ट रूप से चर्चा की है जबकि उद्‌भट ने कहीं भी ध्वनि की प्रत्यक्ष रूप से चर्चा नहीं की है। इंदुराज ने गुण तथा अलङ्कार के परस्पर संबंध की स्पष्ट रूप से व्याख्या करते हुए वामन के मत का अनुसरण किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार गुण 'संघटना' के लक्षण हैं, परन्तु यह संघटना आचार्य वामन की रीति के समान नहीं है। ठीक इसी प्रकार इंदुराज ने रस को काव्य की आत्मा माना है। इन्होंने

1. काव्यं खलु गुण संस्कृत शब्दार्थशरीरत्वातसरसमेव भवति। का० सा० सं०, 6/14 पर ल० वृ०
2. रसाः खुल काव्यस्यालंकारा। वही, 4/5 पर ल० वृ०
3. न खलु काव्यस्य रसानां चालङ्कार्यालङ्कार भावः किंत्वात्मशरीर भावः। वही, 6/14 पर ल० वृ०
4. रसाद्याधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
   कथ्यते तद्रसादीनां काव्यत्मत्वं व्यवस्थितम्।। वही
5. यत्तु रसादीनां पूर्वमलङ्कारत्वमुक्तं तदेवंविधभेदाविवक्षया। वही
6. तासु च रसाद्यभि व्यक्त्यानुगुण्येन पृथकपृथगनुप्रासौ निबध्यते। वही, 1/11 पर ल० वृ०

'रस एवं भाव' को काव्य का शोभाकर धर्म कहा है, अतः रस एवं भाव काव्य के अलङ्कार हैं या जीवितभूत इस बात की विस्तृत चर्चा ग्रन्थ-विस्तार के भय से नहीं की गयी।[1] और फिर काव्यालङ्कारसारसंग्रह की टीका करते हुए इसकी प्रासंगिकता भी नहीं थी परन्तु एक स्थान पर उन्होंने इसे काव्य का अलङ्कार भी कहा और दूसरे स्थान पर काव्य को जीवित भी बताया।

अभिनवभारती में भट्टेन्दुराज की कुछ पंक्तियाँ है जो इन्दुराज की लघुवृत्ति टीका में नहीं हैं इससे यह स्पष्ट होता है कि भट्टेन्दुराज का निश्चय ही कोई और भी ग्रंथ है।[2]

राजानक तिलक

भूमिका

आचार्य उद्भट के दूसरे उपलब्ध टीकाकार राजानक तिलक हैं जिन्होंने 'उद्भटविवेक' अथवा 'विवृत्ति' नाम की टीका उनके 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' पर लिखी। के० एस० रामस्वामिशास्त्री ने गायकवाड़ सीरीज से सन् 1931 में एक 'अज्ञातनामधेया'[3] टीका प्रकाशित की तथा भूमिका में अत्यन्त विशद रूप से इस तथ्य का प्रतिपादन किया था कि इसके लेखक काव्यशास्त्र के अपने युग के अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् राजानक तिलक ही हैं। इस टीका की पाण्डुलिपि की ओर श्री एन०डी० बनहट्टी[4] ने भी ध्यान आकर्षित किया था। परन्तु वे स्पष्टतया इसे जयरथ

---

1. रसानां भावानां च काव्यशोभातिशय हेतुत्वात् किं काव्यालङ्कारत्वमुत काव्यजीवितत्वमिति न तावद्विचार्यते ग्रंथगौरवभयात्। का० सा० सं०, 4/8 पर ल० वृ०
2. अथातिशयः-उत्तमार्थाद्विशिष्ट इति उक्तादप्यर्थाद्विशेषो यथा भट्टेन्दुराजस्य।
   यावन्त्येव पदान्यलीकपिशुनैरालीजनैः शिक्षिता
   तावन्त्येव कृतागसो द्रुततरं व्याहृत्य पत्युः पुरः।
   प्रारब्धं परतो यथा मनसिजस्येच्छा तथा वर्तितुं
   प्रेम्णो मौग्ध्यविभूषितस्य सहजः कोऽप्येष कान्तः क्रमः।।
   अथ सहेतुः -बहूनां भाषणानामिति। बहून भाषमाणाननादृत्यैकस्यासाधारणस्यार्थस्य निर्णयं कर्तव्यत्येनावलम्ब्य सिद्धस्य प्रमितस्योपमानवचनं प्रक्षेपवचनं मम तावदेवं प्रतिभासते इति सहेतुः यथा भट्टेन्दुराजस्य-
   एके वारिनिधिप्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनं केचित्पावकयोगिनं निजगदुः क्षीणेऽह्नि चन्द्रार्चिषाम्।
   मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि। प्रत्यक्षतीव्रातयो मन्येऽहं पुनरध्वनीनरमणीचेतोऽधिशेते रविः।।
   ना० शा०, षोडशोध्याय, पृ० 222, परिमल पब्लिकेशन्स
3. के० एस० रामस्वामि शास्त्री, गायकवाड़, सीरीज, 1931
4. काव्यालङ्कारसारसंग्रह, सम्पादक एन० डी० बनहट्टी, भूमिका 30-31

कथित राजानक तिलक के 'उद्भटविवेक' से भिन्न ही मानने के पक्ष में हैं। डॉ० सुशील कुमार डे० भी उनसे सहमत प्रतीत होते हैं।[1] परन्तु पी०वी० काणे की मौन सहमति के०एस० रामस्वामि शास्त्री के साथ ही कही जा सकती है।[2] जब तक इस संबंध में कोई अन्य बाधक प्रमाण न मिल जाय तब तक शास्त्रीजी के तर्कों को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए।

जन्मसमय

काव्यप्रकाश की संकेत टीका के रचयिता रूचक ने इन्हीं राजानक तिलक से काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था। सहृदयलीला की पुष्पिका में रूचक का ही दूसरा नाम रुय्यक भी आया। वहाँ इस बात का उल्लेख है कि वे राजानक तिलक के पुत्र थे। यह देखते हुए कि रुय्यक का समय लगभग 1150 ई० निश्चित ही है क्योंकि यह अलङ्कारसर्वस्व का रचनाकाल है। हम राजानक तिलक को लगभग 1100 ई० में रखते हुए सत्य के निकट ही कहे जा सकते हैं। भले ही प्रो०पी०वी० काणे इस बात से सहमत नहीं है। राम स्वामिशास्त्री की इस संबंध में की गयी स्थापना पर टिप्पणी करते हुए वे उनके मन्तव्य को एकदेशीय मानते हैं तथा वस्तु स्थिति को इनसे सर्वथा विपरीत मानना चाहा।[3] परन्तु सहृदयलीला[4] के उपलब्ध साक्ष्य को वे नहीं नकार सके। राजानक तिलक को रुय्यक का पिता तथा गुरू मान लिया जाने पर फिर उनके समय को 1100 ई० स्वीकार करना सर्वथा सुसंगत ही है।

मम्मट तथा तिलक

इस प्रकार राजानक मम्मट तथा राजानक तिलक की सम-समयता भी प्रतिपादित की जा सकती है। एक दूसरे के ग्रंथ में एक दूसरे का नाम न आ पाना कोई बहुत बड़ा बाधक प्रमाण नहीं है। इन दोनों ही ग्रन्थों में अनेक विचार समान रूप में वर्णित हुए हैं। आचार्य मम्मट ने भट्ट उद्भट के शब्दार्थ श्लेष संबंधी जिस सिद्धान्त का खंडन किया[5] वह राजानक तिलक में भी समान रूप से दिखाई देता है। अलङ्कारों के

---

1. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस०के०डे०, हिन्दी अनुवाद भाग 1, पृ० 72
2. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० 175
3. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पी०वी० काणे, पृ० 176
4. वही
5. ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्य्याणां, तद्भावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालङ्कारः। का० प्र०, नवम उल्लास, सूत्र 119

विभाजक आधार के रूप में मम्मट ने जो अन्वयव्यतिरेक भाव की स्थापना करते हुए आश्रयआश्रयि भाव का खंडन किया है वह कदाचित् राजानक तिलक के अभिमत पर टिप्पणी हो सकती है।[1] इनके द्वारा संक्षेप में कही गयी बात मम्मटकृत काव्यप्रकाश में उदाहरण-प्रत्युदाहरण सहित निरूपित होकर एक विशिष्ट रूप ग्रहण कर लेती है। इस दृष्टि से यदि सम-सामयिक होने पर भी तिलक को मम्मट का किंचित पूर्ववर्ती मान लिया जाय तो अनुचित नहीं होगा पुनरपि मम्मट तथा तिलक के अंत:संबंधों पर एक विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा अभी भी बनी हुई है।

विवृतिटीका

राजानक तिलक निश्चय ही काव्यशास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे जिन्होंने रुय्यक जैसे धुरन्धर आचार्य उत्पन्न किये। उनकी टीका लघुकाय होने पर भी अपनी सूक्ष्मेक्षिका के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक स्थलों पर उनकी टिप्पणियाँ इनके चिंतन की मौलिकता को प्रकट करती हैं। 'वाचाम्' शब्द की व्याख्या में इसके शब्द और अर्थ उभयरूप की कल्पना,[2] उपमा के 21 भेद इस टीका में निरूपित हैं परन्तु परिगणन केवल 15 का किया गया है। शेष को उन्होंने यह कहकर छोड़ दिया क्योंकि आचार्य उद्भट ने उन्हें उदाहृत नहीं किया।[3] इसके अतिरिक्त अलङ्कारों के 'आश्रयआश्रयिभाव'[4] के संबंध में इनके विचार महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने कई स्थलों पर उद्भट और इंदुराज के कथन को असंगत बताया यथा-पुनरुक्तवदाभास के लक्षण में उद्भट ने "अभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्न रूप पद्य' किया जबकि तिलक ने उनके लक्षण को असंगत बताते हुए यह स्पष्ट किया कि शितिकण्ठः कालगलत्सतीशोकानलव्यथ:' इस उदाहरण में 'शितिकण्ठ' एवं कालगल शब्द अभिन्नार्थक प्रतीत होते हैं क्योंकि कालगल शब्द में पौनरुक्त्य भासित है परन्तु वह भिन्न पद नहीं है। भिन्न पद तो

---

1. एवं दश विरोधा:। का० सा० सं०, 5/10 पर वि०
2. वक्तीति उच्यत इति च वाक्। शब्दोऽर्थश्च। का०सा०सं० 1/1-2 पर वि०
3. तदेवमेकलोपे वाक्यगम्ये द्वे समासगम्यास्तिस्त्र:। सुब्धातुगम्यास्तिस्त्र:। कृद्गम्ये द्वे। तद्धितगम्यैका इत्येकादश। द्विलोपे समासगम्यैका। सुब्धातुगम्ये द्वे इति तिस्त्र:। त्रिलोपे त्वेक एव। इति पंचदश। अन्ये तु भेदा इह नोट्टङ्किता इति न दर्श्यन्ते। का० सा० सं० 1/50 पर वि०
4. अत्र शब्दमुखेनार्थस्य विचित्रत्वेऽपि मुख्यत: कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्य शब्दस्य वैचित्र्यमिति शब्दलङ्कारत्वं युक्तम् वही, 1/27 पर वि०
   काव्ये दोष गुणालङ्काराणां च शब्दार्थगततयाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभाग: क्रियते। शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽस्य शब्दालङ्कारत्वमेव युक्तम्। वही, 4/27

कालगलत् है 'कालगलत्' अभिन्नार्थक नहीं है। अकारान्त 'कालगल' शब्द समुदावयव होने से सार्थक भी नहीं है। इसी कारण भिन्न पदों में अभिन्नार्थकता नहीं आयी।

इस तरह से जहाँ कहीं भी संशोधन की आवश्यकता हो उसे वे निःसंकोच होकर प्रस्तुत करते हैं। यथा-'पररूपेण रूपणात्' द्वारा लक्षित रूपक के चतुर्थ भेद का उदाहरण है- 'असाधारण विशिखैः' इसे स्पष्ट कर रुद्रट द्वारा कथित परम्परित रूपक की तरह उस लक्षण के स्वरूप को स्पष्ट कर 'मेरुरुकेसरमुदार' आदि पद्य[1] को भी श्लिष्ट परम्परित रूपक के उदारहण रूप में उपस्थित किया गया है। राजानक तिलक ने अर्थान्तरन्यास की व्याख्या कर उसमें अर्वाचीन सभी समर्थ्य-समर्थक भाव का उद्धावन किया।[2] व्यतिरेक अलङ्कार में भी मम्मट के प्रभेद का अनुसरण करते हुए अनेक भेदों की भी संभावना प्रकट की[3] मम्मट की तरह उद्भट के भी विरोधाभास नें दसविध भेद निकाले।[4] अप्रस्तुतप्रशंसा का एक ही भेद उद्भट ने किया, परन्तु एक भेद पर ही इन्होंने उसके पाँच भेद किये।[5] प्रेयस्वद अलङ्कार में व्यंग्य-व्यंजक भाव की प्रधानता देते हुए काव्य एवं रस की संबंध स्थापना करते हुए इस को काव्य की आत्मा बताया।[6]

राजानक तिलक की श्रेष्ठता इस बात से भी सिद्ध होती है कि रुय्यक के ग्रंथ अलङ्कार सर्वस्व पर अपनी टीका में जयरथ ने विभिन्न स्थलों पर राजानक तिलक का उद्भट पर टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि रुय्यक ने साधारणतया तिलक के विचारों का अनुकरण किया है।[7] जयरथ ने

---

1. मेरुरुकेसरमुदारदिगन्तपत्रमामूललंबिचलशेषशरीरनालम्। का०सा०सं०, प्रथम वर्ग, पृ० 25
2. समर्थकस्य पूर्व यद्वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः।
   विपर्ययेण वा यत्स्याद्विशब्दोक्तयाऽन्यथाऽपि वा ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः। वही, 2/6 पर वि०
3. वही, 2/12-18
4. वही, 5/10 पर वि०
5. वही, 5/14
6. न चानुमितमात्रतया स्थितो भावः काव्यजीवितम्। अपितु साधारण्येन प्रतिपन्नो रसनाव्यापारगोचरः। एवं रसेऽप्यवगन्तव्यम्। वही, 4/2
7. एतच्चोद्भटविचारे राजानकतिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तमिति न तथास्माभिराविष्कृतम्। अ०स० वि०, पृ० 15 'एतदेव राजानकतिलकेनाप्युक्तम्।
   कारणसामग्यमिह बाधकत्वेनैव प्रतीयते कार्यानुपत्तिस्तुबाध्यत्वेनेति ग्रन्थकृच्च प्रायस्तन्मतानुवर्त्येव। तदुक्तसमानन्यायोऽस्माभिः पाठोलक्षितः। वही, पृ० 158
   अनेनास्माभिः सर्वत्रैव तन्मतानुसृतिरेव कृतेत्यात्मविषयमनौद्धत्यमपि ग्रन्थकृता प्रकाशितमिति। वही, पृ० 227

विमर्शिनी में दो बार उद्भटविवेक तथा तीन बार राजानक तिलक का उल्लेख किया है। व्याख्या के प्रसंग में तिलक के लिए 'स्वीय' या 'तदीय' शब्दों का प्रयोग करते हैं। जयरथ ने आक्षेपालङ्कार के प्रकरण में तिलक के मत को उद्धृत किया है।[1]

तिलक के पाण्डित्य की महिमा का वर्णन करते हुए श्री रामस्वामि का कथन है कि वे आवश्यकतानुसार निराकरणीय अर्थों को निराकृत करते हैं, परस्पर व्यावृत्त पदार्थों का स्वरूप निर्धारण करते हुएय अपना स्वातंत्र्य स्थापित करते हों। उनकी व्याख्या पूववर्ती आचार्यों की व्याख्यारनों को पीछे करते हुए अन्यान्य जनमानस के लिए प्रौढ़ शैली का उपदेश करती हुई प्रतीहारेंदुराज का निश्चय ही अतिक्रमण कर जाती है।

राजानक तिलक को इस प्रकार के पाण्डित्य तथा विशेष रूप से जयरथ के द्वारा उद्धृत संदर्भों की इस टीका में अनुपलब्धि को देखकर श्री रामस्वामि शास्त्री ने इनके द्वारा प्रणीत अन्य अनेक ग्रंथों की भी संभावना प्रकट की है।[2] यद्यपि वे उपलब्ध नहीं होते परन्तु कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। अभी भी हम निराश नहीं हैं।

---

1. एतच्चोद्भटविचारो राजानक तिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तम्। अ०स०वि०, 1982, पृ० 115
2. न केवलमयमेक एव ग्रन्थः राजानकतिलकप्रणीतः। परन्त्वन्योऽपि कश्चिद्विस्ततृस्व-तन्त्रोऽलङ्कारनिबन्धो भवदेतेन प्रणीत इति सम्भावयितुमपि सन्ति निदानानि। राजानकजयरथ एवान्यत्र तिलकोक्तमर्थ स्मरति। न चायमर्थोऽत्र प्रबन्धे समुपलभ्यते। गायकवाड़ संस्कृत सीरीज, 1931, भूमिका, पृ० 38

तृतीय अध्याय

अलङ्कार मीमांसा

अलङ्कारधारणा

अलङ्कार शब्द अलम् पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है–शोभाकारक पदार्थ। आचार्य वामन ने अलङ्कार शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ प्रदर्शित की हैं– (1) अलंकृतिरलङ्कारः,[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द 'सौन्दर्य' अर्थ का वाचक है। यह शब्द का व्यापक अर्थ है। अतएव आचार्य दण्डी ने सौन्दर्यनिष्पत्ति के समस्त उपादानों को इस अर्थ में अन्तर्भूत माना था। उनका कथन है कि जो कुछ भी सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग अथवा लक्षण आदि शास्त्रान्तरों में सौन्दर्य के रूप में वर्णित हैं वे सब हमारे इस शास्त्र में अलङ्कार ही हैं।[2] अलङ्कार शब्द की दूसरी व्युत्पत्तिकरण अर्थ में 'अलङ्क्रियतेऽनेनेति' इस प्रकार प्रदर्शित की गयी है।[3] इस अर्थ में यह शब्द सौन्दर्य निष्पत्ति के साधनों का वाचक है। इस प्रकार अनुप्रास व उपमादि 'अलङ्कार' शब्द के वाच्य बनते हैं। यह इस शब्द का हीन अर्थ है जो कालान्तर में प्रसिद्ध हो गया तथा अलङ्कारग्रन्थों में इस नाम से इन्हीं सौन्दर्य साधनों का वर्णन किया जाने लगा। अपने मनोभावों का सामाजिकों तक सम्प्रेषण कराने की प्रक्रिया का सौन्दर्य के साथ अटूट संबंध है और इस प्रकार सौन्दर्यसाधना कवि कर्म का अभिन्न रूप बन जाती है। वैदिक ऋचाओं से लेकर आधुनिक लोकगीतों तक कवि अपने अन्तःकरण की अनुभूति को सुन्दर स्वरूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हुए प्रतीत होते हैं। इस सौन्दर्य का सामान्य नाम अलङ्कार है।[4] अलङ्कार

---

1. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मागुणाः।
   तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा।। का० सू० वृ०, 3/1/1-2
2. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणान्यागभान्तरे।
   व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः। का० आ०, 2/336
3. करणव्युत्पत्त्या पुनरस्यमलङ्कार शब्द उपमादिषु वर्त्तते। का० सू० वृ०, 1/1/2 पर वृत्ति
4. सौन्दर्यमलङ्कारः। वही, 1/1/2

वाणी के विभूषण हैं, भाव की अभिव्यक्ति में स्पष्टता लाते हैं, उन्हें सुसज्जित करते एवं रमणीयता प्रदान करते हैं।

अलङ्कारविवेचन के प्रारम्भिक संकेत व्याकरण निरुक्त के ग्रन्थों में मिलते हैं। वैयाकरण गार्ग्य के मतों को निरुक्तकार यास्क ससम्मान उद्धृत करते हैं उन उद्धरणों का एक प्रसंग[1] उपमा के विवेचन का बीज बन गया है। कालान्तर में आचार्य उद्भट ने अलङ्कार विवेचन के लिए व्याकरण को आधार बनाया। साथ ही उपमा आदि अलङ्कारों के भरत, दण्डी आदि में प्रचलित 'अर्थानुरोधेन' किये गये भेदों को 'व्याकरणानुरोधेन'[2] करते हुए आचार्यों ने एक नवीन मार्ग खोल दिया। निरुक्त वेद मन्त्रों की व्याख्या में सहायक है, उस व्याख्या में आलङ्कारिक सौन्दर्य का उद्घाटन भी सम्मिलित है। सम्पूर्ण काव्याशास्त्र ही 'अलङ्कार' नाम से प्रसिद्ध हो गया, जिसका प्रमाण प्रारंभिक ग्रन्थों के नामों में अलङ्कार पद का प्रयोग है।[3]

भामह की अलङ्कार-धारणा काव्य शास्त्र में उस स्थान का प्रतिनिधित्व करती है। जहाँ अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व माना जाता है। दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' को काव्य मानकर[4] उसके शोभाकारक धर्मों को अलङ्कार कहा है। आचार्य वामन ने अलङ्कार शब्द के प्रयोग और उसकी सीमा को सुतरां स्पष्ट किया। रुद्रट ने कवि प्रतिभा से उद्भूत कथन विशेष को अलङ्कार माना है।[5] कुन्तक ने विदग्धों के कथन की प्रणाली को अलङ्कार बताया है। वे वक्रोक्ति को 'वैदग्ध्य भङ्गीभणिति मानते हैं। भामह के मत में काव्य की शोभा के आधायक तत्त्व के रूप में शब्द और अर्थ दोनों ही अभिष्ट हैं।[6] प्रयुक्त होने वाले पदों का सौशब्द्य तथा अर्थ की व्युत्पत्ति ये दोनों ही काव्य के अनिवार्य धर्म हैं। इनके समुचित निर्वाह से ही काव्य में वक्रता का आधान होता है। जबकि वामन उन्हें काव्य की शोभा के स्वरूप का आधायक

---

1. अथात उपमा:।
   यदतत् तत्सदृशमिति गार्ग्य: नि०, 3/13
2. उद्भट तथा मम्मट ने व्याकरण को आधार बनाकर अलङ्कारों के विवेचन को एक वैज्ञानिकता प्रदान कर दी है, इनके तथा इनके अनुयायियों के अलङ्कार लक्षण तर्क एवं न्यायशास्त्र की कसौटी पर अत्यन्त प्रामाणिक है।
3. यथा 'काव्यालङ्कार' (भामह), काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट), काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन), काव्यालङ्कार (रुद्रट), वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) आदि।
4. इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। का० आ०, 1/10
5. अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्कारा: का० अ० (रू)
6. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु न:। का० अ०, 1/15

स्वीकार करते हैं। क्योंकि काव्य की शोभा के उत्कर्षक होते हैं। इस प्रकार वे काव्यशोभा के स्वरूपाधायक नहीं उत्कर्षाधायक हैं। इस प्रकार वामन ने सर्वप्रथम[1] गुण और अलङ्कार के मध्य भेदवाद की स्थापना की, यह मत दक्षिण भारतीय आचार्यों का था। वे गुण और अलङ्कारों का विवेचन अलग-अलग किया करते थे, परन्तु उनकी विभाजक रेखा भामह और दण्डी तक भी पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हो पायी थी परन्तु दण्डी और वामन के मध्य अवश्य आचार्यों का ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जो यह भेद काव्य में क्रमशः इनकी समवाय और संयोग की स्थिति के आधार पर किया करता था।[2] आचार्य उद्भट ने भामह-विवरण में इन आचार्यों के मत का उल्लेख किया था। इसका ज्ञान हमें आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश से होता है। आचार्य वामन ने काव्य शोभा के उत्पादक तथा उत्कर्षक के रूप में इन दोनों के मध्य भेद स्वीकार करने का एक नया आधार प्रस्तुत किया था।

कश्मीरी आचार्य इस भेदवाद को मानते के पक्ष में नहीं थे। भामह ने प्रकीर्ण रूप से अलङ्कारवत्त्व, अग्राम्यत्त्व, अर्थवत्त्व, न्यायत्व, अनाकूलत्व आदि गुणों का उल्लेख किया है।[3] परन्तु ये काव्य के सत् काव्य के गुण हैं। दूसरे शब्दों में ये काव्यशोभा के कर्त्ता नहीं उसके उत्कर्षक हैं, अलङ्कारों की ही तरह। एक ओर तो भामह सत् काव्य के गुणों की गणना करते हुए सालङ्कारता का भी उल्लेख करते हैं तो दूसरी ओर अलङ्कारों के प्रसंग में वर्णित भाविक को प्रबंध विषय को गुण कहते हैं।[4] कुल मिलाकर ये गुण और अलङ्कारों की एकता के ही साधक प्रतीत होते हैं।

गुण और अलङ्कारों के मध्य एकता की बात उद्भट ने ही मानी थी जबकि इसके भेद को वे गड्डुलिका प्रवाह कहते हैं।[5] उद्भट का यह मत आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश में उल्लिखित है। परन्तु यह भेदभाव भी उस समय तक पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया था। क्योंकि यदि इनमें भेद सर्वथा नहीं है तो फिर इस तरह के पृथक नामकरण का औचित्य भी क्या है। अन्ततः कश्मीरी ध्वनिवादी आचार्यों को भी यह

---

1. का० सू० वृ०, 3/1/1-2
2. ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्य। स्थितिरिति गड्डुलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः का०प्र०, अष्टम उच्छ्वास
3. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्यायमनाकुलम्।
   गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।। का० अ०, 1/35
4. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। वही, 3/53
5. ओजः प्रभृतीनानामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डुलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः। का० प्र०, अष्टम उच्छ्वास

भेद मानना पड़ा। आचार्य आनन्दवर्धन ने यह स्थापित कर दिया कि गुण अंगी रूप रस के धर्म हैं। तथा अलङ्कार अंग रूप शब्द और अर्थ के धर्म हैं।[1] कुछ भी हो, आचार्य उद्भट इन दोनों के मध्य भेद को स्वीकार नहीं करते। आचार्य मम्मट ने भी काव्य लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पद के सन्निवेश से ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार काव्य में अलङ्कारों की सही स्थिति का नियमन किया है जो उस समय तक के अलङ्कारशास्त्रीय तत्त्वों के विकास क्रम का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता है। मम्मट के अनुसार अलङ्कार शब्द एवं अर्थ रूपी काव्य के अंगों के द्वारा काव्य शोभा का उत्कर्ष उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार हार आदि अलङ्कारों को धारण करने पर सौन्दर्य का अतिशय होता है।[2] जयदेव ने और आगे बढ़कर तथा मम्मट पर कटाक्ष करते हुए अलङ्कार की महत्ता को स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार उष्णता से रहित अग्नि की कल्पना नहीं की जा सकती ठीक उसी प्रकार अलङ्कार से रहित काव्य की स्थिति नहीं हो सकती।[3] अस्तु।

वर्ग-विभाजन

अलङ्कार का सम्बन्ध सौन्दर्य से है।[4] इसलिए यह कहना बड़ा कठिन है कि यह इस प्रकार का है और इतना ही है। यही कारण है कि प्रारंभिक काल से आचार्य इसके विविध विकल्पों की संकल्पना निरन्तर करते रहे। आचार्य दण्डी ने भी इस अनन्तता की ओर संकेत किया था तथा यह बताया था कि निरन्तर इसके नए-नए भेद आचार्यों के द्वारा कल्पित किये जा रहे हैं।[5] अतः सम्पूर्ण रूप से यह बता पाना कि ये अलङ्कार इतने ही हैं, संभव नहीं है।

निरुक्तकार गार्ग्य तक जो केवल मात्र उपमा के ही संकेत मिलते थे,[6] नाट्यशास्त्र

1. अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्व०, आ०, 2/6
2. उपकुर्वन्ति तं सन्तः योऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। का० प्र०, 8/2
3. अंगीकरोत्ति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।। च० आ०, 1/8
4. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।
   सौन्दर्यमलङ्कारः। का०सू०वृ० 1/1/1-2
5. ते चाद्यापि विकल्पयन्ते कस्तान्कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। का० आ०, 2/1
6. अथात उपमाः।
   यदतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। नि०, 3/13

तक आते-आते उनकी संख्या चार तक पहुँच गयी थी।[1] इन चार अलङ्कारों में से यमक का स्वरूप शब्दाभ्यासात्मक था।[2] शेष तीन अलङ्कार निश्चय ही अर्थ से संबद्ध रहे होंगे। प्रचेतायन नामक आचार्य के द्वारा अनुप्रास अलङ्कार की कल्पना की गयी, ऐसा राजशेखर की काव्यमीमांसा से ज्ञात होता है।[3] इसके साथ ही यमक का सीमा विस्तार संकुचित हो गया। प्रारंभिक काल में अनुप्रास का एक अर्थगत स्वरूप भी था[7] जो बाद में तिरोहित हो गया। इस प्रकार शब्द और अर्थ के रूप में अलङ्कारों का एक विभाजन भरत के नाट्शास्त्र से ही खोजा जा पाना संभव है।

विभिन्न प्रकार के काव्य भेदों की संख्या लगातार इतनी बढ़ी तथा उनमें इस-इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ प्राप्त हुईं कि उनके आधार पर आचार्यों ने अनेक नवीन अलङ्कारों की कल्पना प्रस्तुत की। आचार्य अभिनवगुप्त ने विभिन्न अलङ्कारों के अनुसंधान की प्रक्रिया अभिनव भारती में समक्षायी, वहाँ उन्होंने यह उल्लेख किया है कि दो लक्षणों के मेल से अथवा एक लक्षण और एक अलङ्कार के मेल से अथवा किसी लक्षण मात्र से ही एक नया अलङ्कार कल्पित हो जाता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तक आते-आते अलङ्कारों की यह संख्या उन्नीस तक पहुँच गयी थी उसके बाद आचार्य भामह कृत काव्यालङ्कार में कुल मिलाकर अड़तीस अलङ्कारों का उल्लेख प्राप्त होता है। जबकि काव्यालङ्कारसारसंग्रह में यह संख्या चालीस पार कर गयी। अतः इनके वर्गीकरण और विभाजन के व्यवस्थित प्रयास होने पर भी सर्वथा स्वाभाविक ही थे।

इस सम्बन्ध में आचार्य भामह ने इस दिशा में एक नवीन प्रयास किया। शब्द और अर्थ के रूप में इनके वर्गीकरण की एक पद्धति पहले से ही प्रचलित थी, उसे इन्होंने मान्यता प्रदान की[4] परन्तु वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति के रूप में काव्यमात्र को दो शीर्षकों में बाँटकर चिन्तन को एक नयी दिशा देने का प्रयास किया।[5] परन्तु उत्तरवर्ती परम्परा में काव्यतत्त्वों का जिस प्रकार विकास हुआ, इस आधार का चल पाना संभव नहीं था। भामह का कथन है कि अलङ्कारमात्र या तो स्वभावोक्ति रूप

---

1. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
   काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वारः परिकीर्तिताः। ना० शा०, 16/43
2. शब्दभ्यास्तु यमकम्। ना० शा०, 16/62
3. अनुप्रासं प्रचेताः। का० मी०, प्रथम अध्याय।
4. अर्थगत्या तु संख्यातमनुप्रासं पुरातनैः। वि० ध० पु०, 3/14/2
5. शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः। का० अ०, 1/15
6. युक्तं वक्रस्वभावोक्तया सर्वमेवैतदिष्यते। वही, 1/30

होते हैं या वक्रोक्ति रूप। इस प्रकार इन्हें दो भागों में बाँट्य जा सकता है परन्तु स्वयं उनका काव्यालङ्कार ही एक प्रकार से अंतर्विरोध से ही भरा पड़ा है क्योंकि दूसरी ओर से स्वयं यह कहते हैं कि वक्रोक्ति ही अलङ्कारत्व का नियामक आधार है तथा इसके बिना किसी अलङ्कार की संभावना ही नहीं बनती।[1] फिर स्वभावोक्ति तो मात्र एक अलङ्कार है। अतः यह विभाजन बहुत अधिक व्यवस्थित नहीं बन पाया।[2]

आचार्य वामन ने भी इस दिशा में नए ढंग से प्रयास किया, उन्होंने यमक और अनुप्रास को शब्दालङ्कार के रूप में वर्णित कर शेष सभी को उपमामूलक सिद्ध करने का प्रयास किया।[3] इस प्रकार उनके अनुसार अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं– शब्दमूलक और उपमामूलक निश्चय ही आचार्य वामन का आग्रह उपमा के प्रति अधिक है। यह दक्षिण भारतीय आचार्यों का प्रिय अलङ्कार रहा जबकि कश्मीरी आचार्य इसके स्थान पर रूपक को अधिक महत्त्व देते रहे हैं।

भामह वक्रोक्ति को अधिक महत्त्व देते थे इसलिए उन्होंने वाङ्मय मात्र को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो शीर्षकों में बाँट दिए। आचार्य वामन उपमा को अधिक महत्त्व देते थे इसलिए उन्होंने वाङ्मय मात्र को शब्दमूलक और उपमामूलक इन दो भेदों में बाँट्य। इस प्रकार दोनों ने एक ही गलती की। भामह की पद्धति में एक अलङ्कार स्वभावोक्ति है शेष सभी वक्रोक्तिमूलक हैं तथा वामन की पद्धति में केवल दो शब्दालङ्कार हैं शेष सभी उपमामूलक हैं। शब्द और अर्थ के रूप में जो अलङ्कारों का विभाजन किया गया उसमें भी यह दोष अंत तक बना ही रहा। मम्मट व विश्वनाथ तक भी केवल छः या सात शब्दालङ्कार हैं जबकि अर्थालङ्कारों की संख्या शतक पार कर गयी। पुनरपि स्थूल होने पर भी यह विभाजन अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हुआ। बाद में उभयालङ्कार की कल्पना भी कर ली गयी। इसके अंतर्गत आचार्य विश्वनाथ ने पुनरुक्तवदाभास का परिगणन किया है।[4] इस अलङ्कार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह में ही उपलब्ध होता है।

---

1. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। का० अ०, 2/85
2. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
   अर्थस्य तदवस्थात्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।। वही, 2/93
3. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः। का०सू० वृ०, 4/3/1
4. आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्तयेन भासनम्।
   पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः।। सा० द०, 10/2

भामह, दण्डी और वामन के मन्तव्यों को मिलाकर आचार्य रुद्रट का वर्गीकरण, एक ओर प्रशस्त प्रयास किया। शब्द और अर्थ के रूप में अलङ्कारों को दो भागों में बाँटकर पुनः अर्थालङ्कारों को उन्होंने चार भागों में बाँटा-वास्तवमूलक औपम्यमूलक, अतिशयमूलक, श्लेषमूलक।[1] औपम्यमूलक की कल्पना के लिए वे वामन के अधमर्ण हैं। अतिशयमूलक शब्द उन्होंने आचार्य दण्डी से लिया तथा भामह की वक्रता को भूल से अतिशयोक्ति समझकर अतिशयमूलक अलङ्कारों का एक वर्ग बना दिया। काव्यालङ्कार में 'वार्ता' आदि अलङ्कारों का तथा स्वभावोक्ति आदि को मिलाकर वास्तवमूलक अलङ्कारों का एक वर्ग बना दिया।

सर्वप्रथम भामह तथा उसके बाद आचार्य उद्भट ने विभिन्न वर्गों में बाँटकर अलङ्कारों का विवेचन किया परन्तु इन वर्गों में अलङ्कारों के विभाजन का आधार क्या रहा होगा यह स्पष्ट नहीं हो पाता। कदाचित् इन्हें अलङ्कारों के ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि के रूप में समझा जाना चाहिए। विभिन्न वर्गों में विवेचित अलङ्कार विभिन्न आचार्यों की सम्मतियाँ ही हैं। आचार्य उद्भट ने भी वर्गों का यह विभाजन लगभग भामह के अनुकरण पर प्रस्तुत कर दिया। यदि उनके द्वारा रचित भामह विवरण की टीका अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध हो जाए तो कदाचित भामह की मान्यता पर और प्रकाश पड़ सकता है तथा उद्भट के वर्ग विभाजन का मार्ग भी और अधिक स्पष्ट हो सकता है परन्तु उसके अभाव में हमे केवल यह ही स्वीकार करना होगा कि ये अलग-अलग वर्ग अलङ्कारों की संख्या में हुई वृद्धि के विभिन्न सोपान हैं। उदाहरण के रूप में भामह के काव्यालङ्कार में यथासंख्य और उत्प्रेक्षा इन दो अलङ्कारों का एक वर्ग है तथा वहीं पर यह निर्देश है कि इनकी कल्पना आचार्य मेधावी ने की थी।[2] आचार्य उद्भट भामह के अधमर्ण होकर् भी उनके द्वारा प्रस्तुत वर्गों में अपनी मेधा से कुछ परिवर्धन करते हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने भामह के द्वारा निर्दिष्ट अलङ्कारों के स्वरूप में अनेक परिवर्तन भी किए उनके कुछ अलङ्कारों को अमान्य कर दिया। अनेक नवीन अलङ्कारों की कल्पना भी की तथा कुछ अलङ्कारों के भेदों को और अधिक व्यवस्थित कर प्रस्तुत किया। अनुप्रास की तीन वृत्तियों की कल्पना के लिए मम्मटाचार्य भी उद्भट के ऋणी हैं जबकि प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार इनमें से दो की ओर आचार्य भामह ने भी अप्रत्यक्ष रूप से संकेत कर दिया।

---

1. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवौपम्यातिशयश्लेषः। का० अ० (रू), 7/9
2. यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।। का० अ०, 2/88

पुनरुक्तवदाभासव, छेकानुप्रास, काव्यलिङ्ग, दृष्टांत तथा संकर इनके द्वारा विवेचित नवीन अलङ्कार हैं। ये भामह के अतिरिक्त दण्डी में भी दिखाई नहीं देता। भामह द्वारा विवेचित अतिशयोक्ति के एक स्थान पर चार भेद, अनुप्रास के दो के स्थान पर तीन भेद, अर्थान्तरन्यास के एक के स्थान पर चार भेद, उत्प्रेक्षा, ससंदेह, विशेषोक्ति तुल्ययोगिता व निदर्शना के एक के स्थान पर दो भेद, उपमा के तीन के स्थान पर सत्तरह अथवा इक्कीस भेद, परिवृत्ति के एक के स्थान पर तीन भेद रूपक के दो के स्थान पर चार भेद, लाटानुप्रास के एक के स्थान पर पाँच भेद तथा श्लिष्ट के तीन के स्थान पर दो भेद वर्णित किए हैं। भामह के आशीः के सम्बन्ध में अन्यमनस्क थे। उद्भट ने इसका मौन निषेध कर दिया। दण्डी ने इसका उल्लेख किया था। काव्यादर्शकार ने इसके अतिरिक्त आवृत्ति को भी मानना चाहा था, काव्यालङ्कारसारसंग्रह में उसका भी उल्लेख नहीं है जबकि यमक, उपमा, रूपक उत्प्रेक्षावयव तो ऐसे अलङ्कार हैं जिन्हें काव्यालङ्कार में विवेचित होने पर भी उद्भट ने अस्वीकार कर दिया तथा प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिवृत्ति, लाटानुप्रास, विशेषोक्ति।

आचार्य उद्भट ने इक्तालीस अलङ्कारों का निरूपण छः वर्गों में किया तथा यही छः वर्ग उनके इस ग्रंथ के छः अध्याय हैं। इन्हें इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रथम वर्ग : पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक, प्रतिवस्तूपमा।

इस वर्ग में निरूपित आठ अलङ्कारों में से प्रथम चार शब्द के तथा अंतिम चार अर्थ के अलङ्कार बल्कि पुनरुक्तवदाभास को तो विश्वनाथ कविराज ने उभयमूलक कहा है। अन्य तीन अनुप्रास के ही रूप हैं। छेकानुप्रास तो उत्तरवर्ती परम्परा में अनुप्रास में ही समाहित हो गया जबकि लाटानुप्रास को बाद के आचार्यों ने भी स्वतंत्र अलङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान की। चार अर्थालङ्कारों में पहले रूपक तथा बाद में उपमा का उल्लेख है। भामह ने भी ऐसा ही किया था। प्रतिवस्तूपमा काव्यालङ्कार में विवेचित नहीं है जबकि वामन ने इसे उपमामूलक अलङ्कारों में प्रथम स्थान प्रदान किया। यमक का स्थान भी इसी वर्ग के शब्दालङ्कारों में होना चाहिए था, जिसका उद्भट ने मौन निषेध कर दिया।

द्वितीय वर्ग : आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

उद्भट के द्वितीय वर्ग में वही छः अलङ्कार हैं जिनका उल्लेख भामह ने काव्यालङ्कार के प्रथम वर्ग में किया था।

तृतीय वर्ग : यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

भामह ने यथासंख्य और उत्प्रेक्षा का उल्लेख मेधावी के प्रामाण्य पर किया तथा स्वभावोक्ति को अलग से वर्णित किया। उद्भट ने इन तीनों अलङ्कारों को मिलाकर एक नया वर्ग कल्पित कर लिया। काव्यालङ्कार में इससे पूर्व हेतू, सूक्ष्म और लेश का भी निषेधमूलक उल्लेख हुआ था। उद्भट ने इनका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं समझी।

भामह ने एक वर्ग में चौबीस अलङ्कार वर्णित किए थे। निश्चय ही यह वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षा कुछ अधिक बड़ा हो गया था। उद्भट ने इन्हें तीन वर्गों में विभाजित कर प्रस्तुत किया।

चतुर्थ वर्ग : प्रेयस, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।

इस वर्ग में निरूपित प्रेयः रसवत्, ऊर्जस्वि, और समाहित में उद्भट ने रस विवेचन के समस्त संदर्भों को सम्मिलित कर दिया। भामह ऐसा नहीं कर पाये थे। इन चारों का वर्णन भी काव्यालङ्कार में संतोषजनक नहीं हुआ था। रसवत् का लक्षण तथा एक स्पष्ट सा उदाहरण है जबकि अन्य अलङ्कारों के केवल उदाहरण मात्र दिए गए हैं। इन चारों के बीच में पर्यायोक्त का परिगणन कुछ खटकता है। परन्तु भामह के द्वारा निर्दिष्ट क्रम का आदर करते हुए उसे यथावत् स्वीकार कर लिया गया है। इस वर्ग में वर्णित अन्य अलङ्कार उदात्त तथा श्लिष्ट हैं।

पंचम वर्ग : अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर, परिवृत्ति।

अलङ्कारों की संख्या की दृष्टि से यह वर्ग सबसे बड़ा कहा जा सकता है। उपमेयोपमा को भामह के ही अनुसार इस वर्ग में सम्मिलित कर लिया गया है जबकि इसका अपेक्षाकृत समुचित स्थान प्रथम वर्ग में उपमा अथवा प्रतिवस्तूपमा के साथ बनता था परन्तु ऐतिहासिक विकास क्रम में कदाचित् इसकी उद्भावना उत्तरवर्ती है। सहोक्ति और परिवृत्ति के मध्य संकर की कल्पना उद्भट की मौलिकता प्रतीत होती है। परन्तु उन दोनों उक्तिमूलक अलङ्कारों के मध्य में इसे रखना अधिक समुचित प्रतीत नहीं होता। इसका समुचित स्थल छठे वर्ग में संसृष्टि के साथ बनता था, बाद के आचार्यों ने भी संकर और संसृष्टि को साथ-साथ ही रखकर वर्णित किया।

षष्ठ वर्ग : अनन्वय, ससंदेह, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्यंत।

ये अवशिष्ट छः अलङ्कार भामह के चौबीस अलङ्कारों से बचे हुए हैं।

प्रथम-वर्ग

पुनरुक्तवदाभास

इस अलङ्कार को सर्वप्रथम उद्भट ने परिभाषित किया। कदाचित् यह उद्भट की मौलिक कल्पना है क्योंकि उद्भट से पहले किसी भी ग्रन्थ में इस अलङ्कार के संबंध में कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती। लक्षण के सन्दर्भ में पुनरुक्तवदाभास तथा उद्देश क्रम में पुनरुक्तवदाभास नाम का भेद कदाचित् छन्दोऽनुरोधेन ही है। इस सन्दर्भ में इसकी दो संज्ञाओं की कल्पना उचित नहीं। राजानक तिलक के इस पर हेतु उपस्थित करते हुए कहा है कि कोई अभिधा निर्दिश्यमान अर्थ से साक्षात् अन्वित होती है तथा कभी वह अर्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त अन्य अर्थ से अन्वित होती है। इसी को प्रकट करने के लिए उद्देश क्रम में 'वति' का प्रयोग नहीं किया गया है।[1]

इस अलङ्कार के शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार अथवा उभयालङ्कार के संबंध में आचार्यों के मतों में विभिन्नता पायी जाती है। उद्भट ने इस सन्दर्भ में 'वाचामलङ्कार' पद का प्रयोग किया है। इनके टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने इसे 'शब्दालङ्कार' बताया है। तिलक ने 'वाचां' का अर्थ व्युत्पत्तिभेद से शब्द एवं अर्थ दोनों किया और उसे उभयालङ्कार सिद्ध किया। कालान्तर में आचार्य विश्वनाथ ने इसे उभयालङ्कार माना।[2]

उद्भट के अनुसार आकार की दृष्टि से जहाँ भिन्न रूप वाले पद एकार्थक से प्रतीत हो तो 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार होता है।[3] यथा-नाग, कुंजर पद गजवाची होने से भिन्नरूप पद होते हुए भी अभिन्न इव प्रतीत होते हैं। इस उदाहरण में नाग हस्तिवाची है। 'कुंजर' श्रेष्ठवाची है। 'शितिकण्ठ' तथा 'कालगल' शिववाची हैं, इसका अर्थ हुआ समय पाकर नष्ट न होने वाला। यह पद सती के शोक का विशेषण है।[4] इंदुराज के अनुसार इस अलङ्कार में दो अथवा दो से अधिक पर इस तरह से व्यवस्थित होते हैं कि जिनमें समान अर्थ का आभारन सा मिलता है, परन्तु वास्तव में वे समान अर्थ के नहीं होते। 'शितिकण्ठः कालगलत्' में 'शितिकण्ठ' एवं कालगल' शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं।

---

1. काचिन्निर्दिश्यमानार्थान्वयिनी काचिदर्थसामर्थ्याक्षिप्तार्थान्वयिन्यभिधा भवतीति दर्शनायोद्देशे वतिं कृत्वा नेह प्रायुङ्क्ता। का०सा०सं०, 1/2 पर वि०
2. 'भाति सदानत्यागः' इति न द्वयोरपि इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वाभ्यामस्योभयातङ्कारत्वम्। सा० द०, मोतीलाल बनारसीदास, पृ० 274
3. पुनरुक्तवदाभासमभिन्नवस्त्ववोद्भासि भिन्नरूपपदम्। का०सा०सं०, 1/2
4. तदाप्रभृति निःसङ्गो नागकुञ्जरकृत्तिभृत्
शितिकण्ठः कालगलत्सतीशोकानलव्यथः।। वही, 1/4

राजानक तिलक ने उद्भट के लक्षण में भिन्न पद शब्द को सही नहीं माना। उन्होंने कहा है कि उदाहरण में उसका कोई तालमेल नहीं होता। भिन्नपद शितिकण्ठः तथा कालगल में अभिन्नार्थक नहीं है और जो अभिन्नार्थक है-शितिकण्ठः तथा कालगल वे भिन्न पद नहीं हैं। क्योंकि कालगल शब्द में पदत्व सिद्ध नहीं होता।[1] इसलिए राजानक तिलक ने कुछ ऐसे व्याख्याकारों का मत उद्धृत किया है जो इसका व्याख्यान इस प्रकार किया करते थे कि जहाँ भिन्न रूप वाला पद किसी पदान्तर अथवा शब्दान्तर से अभिन्न के रूप में आभासित होता है।[2] मम्मट पर उद्भट का प्रभाव है। इनके अनुसार विभिन्न आकार वाले शब्दों में एक ही अर्थ की प्रतीति का होना ही पुनरुक्तवदाभास है।[3] रुय्यक का कथन है कि जब प्रारम्भ में पुनरुक्ति प्रतीत हो और अन्त में उसका निराकरण होता हो तो पुनरुक्तवदाभास होगा।[4] जयदेव ने इसे पुनरुक्तप्रतीकाश नाम दिया।[5] उनका कथन है कि जब अर्थ पुनरुक्त के समान प्रतीत हों तो यह अलङ्कार होता है। विश्वनाथ पर उद्भट का प्रभाव है। इनके अनुसार भिन्न आकार वाले शब्दों के अर्थ में जब आपाततः पुनरुक्ति की प्रतीति हो तो पुनरुक्तवदाभास होता है।[6] आपाततः पद के प्रयोग से लक्षण में और अधिक स्पष्टता का आधार हुआ है।

उद्भट इसे 'वाचामलङ्कार' के अन्तर्गत रखते हैं। इंदुराज ने इसका अर्थ 'शब्दालङ्कार' किया। तिलक ने इसे उभयालङ्कार सिद्ध किया। इन्होंने वाचां का अर्थ व्युत्पत्तिभेद से शब्द और अर्थ दोनों किया। वक्तीति वाक् तथा उच्यत इति वाक् इन दो व्युत्पत्तियों के आधार पर इसके दोनों अर्थ किये जा सकते हैं। पुनरपि मम्मट इसे शब्दालंकार ही मानने के पक्ष में है। रुय्यक इस सन्दर्भ में चर्चा करते हुए कहते हैं कि अनुप्रास में शब्द पौनरूक्त्य है, अतः इसे अर्थालङ्कार कहना चाहिए। 'अर्थपौनरुक्त्यादेवार्था- श्रितत्वार्थालङ्कारत्वज्ञेयम्।' विश्वनाथ ने अत्यन्त सन्नद्धतापूर्वक इसकी अलङ्कारता को ही सिद्ध किया।

---

1. कालगलादिशब्दस्य पदत्वं नास्ति। वही, 1/3 पर वि०
2. इत्यभिन्नवस्त्विवोद्भासते भिन्नरूपं पदं पदान्तराच्छब्दाद्वातस्मादेकस्मादनेकस्माद्यत्रेत्यपरे समस्यन्ति। वही
3. पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा एकार्थतेव। का० प्र०, 9/86
4. आमुखावभासनं पुनरुक्तवदाभासम्।
   आमुखग्रहणं पर्यवसानान्यथात्वप्रतिपत्त्यर्थम्।। अ० स०, पृ० 30
5. पुनरुक्तप्रतीकाशं पुनरुक्तार्थसन्निभम्। च० आ०, 5/7
6. आपाततो यदर्थस्य पौनरूक्त्येन भासनम्।
   पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः।। सा० द०, 10/2

आचार्य उद्भट इस अलङ्कार के उद्भावक हैं। उत्तवर्ती आचार्यों ने इस सन्दर्भ में इन्हें ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। उद्भट ने जिस प्रकार इसे प्रस्तावित किया तथा टीकाकारों ने इसका व्याख्यान प्रस्तुत किया उससे उत्तरवर्ती आचार्यों के जैसे दिशानिर्देश ही निर्धारित हो गये। तिलक ने जिस प्रकार उद्भट के ही शब्दों के विश्लेषण से इसकी उभयालङ्कारता सिद्ध की वह विश्वनाथादि आचार्यों के लिए उपजीव्य बनी। बाद की परम्परा में इसे उभयालङ्कार ही स्वीकार कर लिया गया। इत्थम्, जहाँ इस अलङ्कार के प्रवर्त्तन का श्रेय उद्भट को जाता है, इसके टीकाकारों, विशेषरूप से तिलक को इसके समुचित व्याख्यान का यशोभागिता प्राप्त हुई।

छेकानुप्रास

आचार्य भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलङ्कारों का विवेचन वाचिक अभिनय के संदर्भ में किया था। इनमें से समस्त शब्दाभ्यास को यमक के शीर्षक में रखा गया। राजशेखर के अनुसार 'प्रचेतायन' नाम के किसी आचार्य ने अनुप्रास की कल्पना करके यमक के विस्तार को संकुचित कर दिया। विकास की प्रारंभिक अवस्था में अनुप्रास के जिन विविध रूपों की कल्पना की गयी उनमें 'छेकानुप्रास' भी है। इसका उल्लेख भामह के 'काव्यालङ्कार' में भी प्राप्त होता है। परन्तु, उद्भट कृत 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में इसे स्वतंत्र अलङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान की गयी।

उद्भट ने इसे तरह व्यक्त किया है दो-दो समान स्वर व्यंजनों की सुन्दर तथा सदृश अभिव्यक्ति छेकानुप्रास है।[1] उद्भट ने पहले छेकानुप्रास का वर्णन किया है फिर अनुप्रास का। इसका कारण संभवतः यह भी हो सकता है कि यह उनके स्वरचित 'कुमारसंभव' के उदाहरणों का क्रम हो। अनुप्रास के उदाहरणों से पूर्व ही छेक का उदहारण क्रम में पड़ता है। राजानक तिलक ने इस तर्क का उल्लेख उपमा के सन्दर्भ में किया है। जहाँ वह उद्देशक्रम में पूर्व निर्दिष्ट होकर भी लक्षणक्रम में पश्चात् वर्णित की गयी है।[2] दूसरी ओर उन्होंने स्वयं अनुप्रास 'त्रिधा' कहकर अनुप्रास के भेदों को नियमित कर दिया। जिससे छेक और लाट नामक अलङ्कारों के उसमें प्रवेश की संभावना समाप्त हो गयी।

---

1. छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ। का० सा० सं०, 1/3
2. वृत्तानुरोधादुपमा प्रागुपदिष्टाऽपि स्वयंकृतकुमारसंभवाख्यकाव्य संगत्यनुरोधाद्दीपकस्य पश्चाल्लक्षिता। परिवर्तने चोत्तरत्रायमेव विशेषो ज्ञेयः। वही, 1/31 पर वि०

इसके नामरकण के संदर्भ में प्रतीहारेन्दुराज एक नवीन कल्पना की है। उन्होंने 'कोष' को उद्धृत करते हुए नीड़ की ओर उन्मुख पक्षियों के समूह की 'छेक' संज्ञा स्वीकार की। जब वे समूह बनाकर अपने घोसलों की ओर जाते हैं तो एक प्रकार की मधुर ध्वनि उनके मुख से निःसृत होती है उसे सुनकर उसी प्रकार आनंद की प्राप्ति होती है जैसे छेकानुप्रास से युक्त पदों को सुनने पर होती है इसलिए इसे उसी के अनुकरण छेकानुप्रास कर दिया जाता है।[1] इसके अतिरिक्त 'छेक' शब्द का एक अर्थ 'विदग्ध' भी है। उन्हें प्रिय होने के कारण भी इसकी छेकानुप्रास संज्ञा प्रसिद्ध है।[2] इन्हीं दोनों तर्कों का उपयोग राजानक तिलक ने भी अपनी टीका में किया है।[3] यथा सदेवो दिवसान्निन्ये आदि।[4] प्रस्तुत उदाहरण में 'सदेव तथा दिवस', इन्द्र तथा कंदर, गरिष्ठ तथा गोष्ठी, प्रथम तथा प्रमथ, परि एवं उपास ये सभी शब्द एक युग्म में हैं-जहाँ स्वर एवं व्यंजन एक साथ हैं, और प्रत्येक जोड़े में उच्चारणगत समानता भी है। तिलक के अनुसार इस अलङ्कार का सौन्दर्य सदृश वर्णों के सद्प्रयोग के कारण निष्पन्न होता है।[5]

आचार्य मम्मट इसे परिभाषित करते हुए कहा कि अनेक व्यजनों की एक बार आवृत्ति रूप साम्य छेकानुप्रास कहते हैं।[6] रुय्यक ने मम्मट का अनुकरण किया है। इन्होंने इस सन्दर्भ में संख्यानियम पद का प्रयोग किया है। यदि दो ही व्यंजन समष्टियों में अनेक बार प्रयोग हो तो छेकानुप्रास होता है।[7] जयदेव का कथन है कि जहाँ स्वर व्यञ्जन समुदाय की एक बार आवृत्ति हो वहाँ छेकानुप्रास होता है।[8] विश्वनाथ ने इस अलङ्कार को अनेकधा शब्द से लक्षित किया है। इनके कथनानुसार

---

1. छेकान् गृहेष्वभिरतानुशन्ति मृगपक्षिणः। वही, 1/3 पर ल० वृ०
2. छेका वा विदग्धाः। वही, 1/3 पर वि०
3. द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ द्वयोर्द्वयोर्वर्णयोः सुष्ठु-अदूरे सह सदृशोच्चारणे क्रियमाणे छेकानुप्रासो भवति। वही
4. स देवो दिवसान्निये तस्मिन् शैलेंद्रकंदरे।
   गरिष्ठगोष्ठी-प्रथमैः प्रमथैः पर्युपासितः।। वही, 1/5
5. द्वयोर्द्वयोर्वर्णयोश्चात्र सादृश्योक्तेरलङ्कारता। का०सा०सं, 1/3 पर वि०
6. वर्णसाम्यमनुप्रासः छेक-वृत्तिगतो द्विधा।
   सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः, एकस्थाप्यसकृत्परः।। का० प्र०, 10/97
7. द्वयोर्व्यञ्जन समुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्य संख्या-नियमः, अ० स०, पृ० 16
8. स्वर-व्यञ्जन-संदोह-व्यूहा मन्दोहदोहदा।
   गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रासभासुरा।। च० आ०, 5/2

व्यञ्जनों के समूह की एक ही बार अनेक प्रकार की समानता होने को 'छेक' अर्थात् छेकानुप्रास कहते हैं।[1]

उपलब्ध साक्षियों के आधार पर कहा जा सकता है कि उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह सर्वप्रथम 'छेकानुप्रास' एव स्वतंत्र अलङ्कार के रूप में विवेचित हैं। दोनों टीकाकारों ने न केवल इसका समर्थन किया, बल्कि इसके नामकरण की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए वे सन्नद्ध रहे हैं। इस दृष्टि से इन्दुराज इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि तिलक ने उन्हीं के लिए हुए तर्कों का उपयोग किया। उद्भट ने अनुप्रासस्त्रिधा कहकर अनुप्रास के भेदों को नियमित कर दिया। मम्मट न उद्भट कृत लक्षण में कुछ परिष्कार प्रस्तावित किये। इन्होंने 'सकृत' और 'असकृत' पदों से प्रयोग के छेकानुप्रास एवं वृत्यनुप्रास के लक्षण में 'अनेकधा' पद का प्रयोग कर इसे और भी स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ में इसके स्वरूप में विस्तार ही प्राप्त होता है। परन्तु इन सबके मूल में आचार्य उद्भट और उनके दोनों टीकाकारों की उपजीव्यता निःसंदिग्ध है।

अनुप्रास

भामह ने सरूप वर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहा है।[2] दण्डी ने 'पादगत या पदगत' वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहा है।[3] उद्भट ने भामह के अनुसार अनुप्रास का लक्षण दिया। इन्होंने वर्ण की जगह 'व्यञ्जन' पद का प्रयोग किया है तथा सरूपव्यञ्जन विन्यास को अनुप्रास कहा है।[4] इनका कथन है कि केवल व्यंजन पर अनुप्रास का सौन्दर्य निर्भर करता है। इन्होंने अनुप्रास के सन्दर्भ में वृत्तियों का भी वर्णन किया है। साथ ही साथ तीनों वृत्तियों के आधार पर अनुप्रास के (वृत्त्यनुप्रास) के तीन उपभेद किये हैं। टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने इन तीनों वृत्तियों को इस तरह से परिभाषित किया है–

परुषावृत्ति–परुषावृत्ति से परुषानुप्रास बनता है। इस वृत्ति का आधार है-शकार

---

1. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।
छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृत्यसाम्यमनेकधा।। सा० द०, 10/3
2. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। का० अ०, 2/5
3. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता। का० आ०, 1/55
4. सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा। का० सा० सं०, 1/12

षकारादि से युक्त वर्ण रेफ संयुक्त व्यञ्जन, टवर्ग तथा ह्ल, ह्व, ह्य आदि।[1] तत्र तोयाशयाशेष[2] आदि उदाहरण में शकार का समान रूप से उपनिबंध होने के कारण परुषानुप्रास होता है।

उपनागरिका वृत्ति—जहाँ समान रूप वाले वर्ण संयुक्त हों, तथा प्रत्येक वर्ग के अन्तिम (अनुनासिक) वर्ण अन्य स्पर्श वर्णों (क से म तक) के आदि में मिले हुए हों।[3] इसका उदाहरण सान्द्रारविन्द[4] आदि पद्य है। तवर्ग का अन्तिम वर्ण नकार इसी वर्ण के स्पर्श वर्ण दकार के साथ अनेकधा प्रयुक्त है।

ग्राम्या वृत्ति-इस वृत्ति से ग्राम्यानुप्रास बनता है। ग्राम्या में परुषा तथा उपनागरिका से अतिरिक्त वर्णों के सौन्दर्य का समावेश होता है। इस वृत्ति को 'कोमला' भी कहते हैं। यह वृत्ति लकार आदि से युक्त होती है।[5] इसका उदाहरण केलिलोलालि[6] आदि पद्य है। इसमें लकार की अनेक बार आवृत्ति होने से यह ग्राम्यानुप्रास का उदाहरण है। परन्तु उदाहरण को देखने से यह स्पष्ट है कि यहाँ ग्राम्य का अर्थ कोमल वृत्ति से ही है। ग्राम्यत्व दोष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

रुद्रट ने एक दो या तीन के व्यवधान से अनेक बार व्यञ्जनों की आवृत्ति को अनुप्रास कहा है।[7] इन्होंने अनुप्रास के पाँच भेद किए-मधुर, प्रौढ़, परुष, ललित एवं भद्र। इन्होंने उद्भट के तीन भेदों में से केवल परुष को लिया है। रुद्रट की मधुरा वृत्ति उद्भट की उपनागरिका से काफी मिलती जुलती है। क्योंकि दोनों में ही नासिका

---

1. शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
   परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता।। वही, 1/6
2. तत्र तोयाशयाशेष-व्याकोशित कुशेशया।
   चकाशे शालिकिंशारुकपिशाशामुखाशरत्।। वही, 1/7
3. सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
   स्पर्शैयुतां च मन्यन्ते उपनागरिका बुधाः। वही, 1/8
4. सान्द्रारविंदवृन्दोत्थमकरंदाम्बुबिंदुभिः।
   स्यन्दिभिः सुंदरस्यंदं नन्दितेन्दिन्दिरा क्वचित्।। वही, 1/9
5. शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्या।
   ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः। वही, 1/10
6. केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित्।
   कुर्वती काननारूढ़ श्रीनूपुरवभ्रमम्।। वही, 1/11
7. एकाद्वित्रयन्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
   आवर्त्यते नित्तरंमथवा यदसावनुप्रासः।। का० अ० (रु) 2/18

ध्वनियों का स्ववर्गीय ध्वनियों से योग माना गया है। अंतर केवल इतना है कि जहाँ उद्भट ने सरूप संयोग (क्क, प्प, च्च आदि) की बात कही है, वहाँ रुद्रट ने ऐसी कोई चर्चा नहीं की। उद्भट ने ग्राम्या के विषयों में कहा है कि इसमें शेष वृत्तियों के वर्णों से बचे हुए वर्णों का उपयोग होता है। इसी प्रकार रुद्रट ने भी भद्रा के लिए 'परिशिष्य भद्रायाम्' कहा है। उद्भट ने सर्वप्रथम वर्गीकृत रूप में इन तीन वृत्तियों को समाहित रूप से अनुप्रास कहा। मम्मट ने इन्हीं तीन वृत्तियों को रीति के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया। यहाँ उन्होंने रुद्रट की दो नवीन वृत्तियों को मान्यता प्रदान नहीं की। अनुप्रास की इन वृत्तियों के विवेचन में उद्भट का ऋण स्पष्ट है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उद्भट से पूर्व भामह आदि के ग्रंथों में अनुप्रास का जो स्वरूप स्थिर हो गया था वह अंत तक आवृत्ति के लिए वर्ण, व्यञ्जन अथवा शब्द की बात कही जाती रही परन्तु सभी आचार्यों का मूल भाव व्यञ्जन की आवृत्ति से ही था। कारण स्पष्ट है कि स्वर की आवृत्ति में कोई विशेष चमत्कार नहीं होता। परन्तु उद्भट का योगदान विषय को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के कारण उन्होंने सर्वप्रथम अनुप्रास की तीन वृत्तियों के आधार पर उसके तीन भेदों की कल्पना तथा अनुप्रास से संबंधित जो अन्य अलङ्कार का स्थान दिया। मम्मट ने इनकी वृत्तियों को स्वीकार कर लिया परन्तु उनका संबंध रीतियों के साथ जोड़ दिया तथा छेक आदि को अलङ्कार भेद के रूप में मान्यता प्रदान की। लाटानुप्रास को अवश्य मम्मट ने स्वतंत्र अलङ्कार माना था, विश्वनाथ ने उसे भी अनुप्रास के भेद के रूप में स्थापित कर दिया। पुनरपि अनुप्रास संबंधी विवेचन आगे बढ़ाने की दृष्टि से उद्भट का योगदान अवश्य है। कुल मिलाकर उद्भट और उनके टीकाकारों का प्रभाव रुद्रट और मम्मट पर तो साक्षात् पड़ा ही, विश्वनाथ आदि ने भी उनके मत को पर्याप्त आदर प्रदान किया यद्यपि वे उनसे पूर्ण सहमत नहीं थे। इस तरह उद्भट के दोनों टीकाकारों के योगदान को उद्भट के मन्तव्य को स्पष्ट करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

लाटानुप्रास

लाट गुर्जर प्रदेश को कहते हैं। इस देश के लोगों को प्रिय होने के कारण इस अलङ्कार को लाटानुप्रास कहा जाता है। इस अलङ्कार में शब्द और अर्थ एक ही होते हैं और उनकी आवृत्ति भी होती है परन्तु अन्वय करने पर उनका फल अर्थात् तात्पर्य बदल जाता है। इस अलङ्कार में शब्दों या पदों की आवृत्ति होती है, अतः इसे पदानुप्रास या शब्दानुप्रास कहते हैं।

लाटानुप्रास के तीन प्रधान तत्त्व हैं–शब्दावृत्ति या उच्चारणसादृश्य, अर्थ सादृश्य एवं तात्पर्य भेद। भामह ने इस अलङ्कार का जो उदारहण दिया है उसमें दृष्टि तथा चन्द्र शब्दों की आवृत्ति है, उनका अर्थ भी समान है परन्तु तात्पर्य भिन्न है।[1] परन्तु इसका लक्षण उन्होंने नहीं दिया। आचार्य उद्भट ने भामह के उदाहरण में इन्हीं तीन तत्त्वों का अनुसन्धान कर इसे परिभाषित किया है कि जब स्वरूप तथा अर्थ में किसी भी प्रकार का भेद न हो परन्तु किसी अन्य प्रयोजनवश शब्दों या पदों की पुनरावृत्ति हो तो लाटानुप्रास होता है।[2] इन्होंने इसके पाँच भेद बताए हैं।[3]

1. 'पदद्वितयस्थित्या द्वयोः'–जहाँ सरूप शब्द दो अलग पदों में स्थित हों। ये दोनों शब्द परतन्त्र रूप से स्थित होते हैं।

   यथा–क्वचिदुत्फुल्ल इत्यादि पद्य[4] में कमल, षट्पद तथा मुखर शब्दों की भिन्न सामासिक पदों के अन्तर्गत परतन्त्र स्थिति है।

2. 'एकरूप पूर्ववत् (परतन्त्र स्थित्या), तदन्यस्य स्वतन्त्रत्वात्–जहाँ एक पद अलग पद में परतन्त्र हो और दूसरा स्वतन्त्र पद हो।

   यथा–पद्मिनीः आदि पद्य[5] में पद्मिनी एवं हंस शब्द का प्रयोग दो–दो बार हुआ है परन्तु उनमें से एक स्वतंत्र है जबकि दूसरा अन्यपद के अन्तर्गत होने से परतंत्र।

3. द्वयोर्वा एक पदाश्रयात्–जब एक पद में रहने वाले दो समानुपूर्वीक शब्दों की स्थिति हो तो यह लाटानुप्रास का भेद होता है।

---

1. लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।
   दृष्टिं दृष्टिंसुखां धेहि चन्द्रचन्द्रमुखोदितः। का० अ०, 2/8
2. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
   शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते। का० सा० सं०, 1/13
3. स पदद्वितयस्थित्या द्वयोरेकस्य पूर्ववत्।
   तदन्यस्य स्वतन्त्रत्वाद्वयोर्ध्वै (वैं) कपदाश्रयात्।।
   स्वतन्त्रपदरूपेण द्वयोर्वापि प्रयोगतः।
   भिद्यतेऽनेकधाः भेदैः पादाभ्यासक्रमेण च।। वही, 1/14-15
4. क्वचिदुत्फुल्लकमला कमलभ्रान्तषट्पदा।
   षट्पदक्वाणमुखरा मुखरस्फारसारसा।। का० सा० सं०, 1/16
5. पद्मिनीः पद्मिनीगाढस्पृहयागत्य मानसात्।
   अन्तर्दन्तुरयामासुर्हसा हंसकुलालयात्।। वही, 1/17

यथा-जितान्यपुष्प-किञ्जल्क-किञ्जल्कश्रेणिशोभितम्[1] इस उदाहरण में दो किञ्जल्क किञ्जल्क शब्द एक साथ एक ही पद में स्थित है।

4. स्वतन्त्रपदरूपेण द्वयोर्वापि प्रयोगत:-जब दोनों शब्द अलग तथा स्वतन्त्र पद हों। यथा-काशा: काशा इत्यादि पद्य[2] में दोनों 'काश' पद सर्वथा स्वतंत्र पद के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

5. 'पादाभ्यास क्रमेण च'-पाद की यथासंभव अनेक रूपों में आवृत्ति हो। इसके अनेक रूप हो सकते हैं। यहाँ पदसमुदायात्मक पाद की ही स्वरूपार्थ विशेष में तात्पर्यभेद से पुनरुक्ति होती है। यथा उदाहृत पद्य[3] में द्वितीय पाद की चतुर्थ पाद में भी अविकल रूप से आवृत्ति हुई है।

प्रतीहारेन्दुराज तथा राजानक तिलक दोनों ने इस अलङ्कार की लाटानुप्रास संज्ञा में हेतु उपस्थित करते हुए कहा है कि यह लाट (गुजरात) प्रदेशवासियों को काफी प्रिय है।[4] भोज ने यह बताया कि अर्थगत अभेद रखते हुए जहाँ पदों की आवृत्ति हो और आवृत्त पद समूह का तात्पर्य भिन्न हो। यह पदावृत्ति अव्यवहित भी हो सकती है और व्यवहित भी। यह आवृत्ति समासगत भी हो सकती हैं और पृथक् पृथक पदगत भी हो सकती है। जहाँ तक व्यवहित रूप में पदावृत्ति का सवाल हो उसकी निश्चित रूप में गणना नहीं की जा सकती है।[5]

उद्भट ने जहाँ इसका भेद विभाग स्वतंत्र, परतंत्र एवं स्वतंत्र परतंत्रपदगत रूप

---

1. जितान्यपुष्पकिञ्जल्ककिञ्जल्कश्रेणिशोभितम्।
लेभेऽवतंसतां नारीमुखेन्दुष्वसितोत्पलम्। वही, 1/18

2. काशा: काशा इवोद्धांसि सरांसीव सरांसि च।
चेतांस्याचिक्षिपुर्यूनां निम्नगा इव निम्नगा:।। वही, 1/19

3. स्त्रियो महति भर्तुभ्य आगस्यपि न चुक्रुध:।।
भर्तारोऽपि सति स्त्रीभ्य आगस्यपि न चुक्रुध:।। वही, 1/20

4. लाटदेशनिवासिजनवल्लभत्वाल्लटयनुप्रासोऽभिधीयते वही, 1/20 पर ल० वृ०

5. अर्थाभेदे यदावृत्ति: प्रवृत्त्या भिन्नयेह या।
स सूरिभिरनुप्रासो लाटीय इति गीयते।। सं०, क० 2/102
स चाव्यवाहितो व्यस्त: समस्त उभय: पुन:।
उभयं चक्रवालच गर्भश्चैवाभिधीयते।। वही, 2/103
यस्तु व्यवहितो नाम नेयतां तस्य शक्यते।
कर्त्तुमेकादिगणना पदवृत्त्यादिभङ्गिभि:।। वही, 2/104

से किया है, वहाँ मम्मट ने एक पदावृत्ति, नानापदावृत्ति एवं नामवृत्ति के रूप से किया है।[1] रुय्यक ने पौनरुक्त्य के पहले तीन भेद किये-व्यञ्जनपौनरुक्त्य, स्वरव्यञ्जनपौनरूक्त्य एवं अर्थपौनरुक्त्य। व्यञ्जनपौनरुक्त्य के पुनः तीन भेद होते हैं, छेक वृत्ति एवं लाट।[2] जयदेव ने लाटानुप्रास के भेद नहीं गिनाये, केवल स्वरूप बताया है जहाँ पुनरुक्त पद भिन्न-भिन्न अभिप्राय के प्रकाशक हो वहाँ लाटानुप्रास होता है।[3] विश्वनाथ ने अनुप्रास की एक भेंद के रूप में लाटानुप्रास की चर्चा की है, परन्तु प्रभेद नहीं बताये। अस्तु।

सर्वप्रथम भामह ने अनुप्रास का वर्णन करते हुए लाटानुप्रास का भी उल्लेख किया था। परन्तु वे स्वयम् इसकी अलङ्कारता को लेकर बहुत अधिक आश्वस्त दिखाई नहीं देते। परन्तु उद्भट ने लाटानुप्रास का एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में निरूपण किया। उनके अनुसार लाटानुप्रास के स्वरूप में शब्द और अर्थ तो वही रहता है परन्तु आवश्यकता के अनुसार तात्पर्य में अन्तर हो जाता है। मम्मट का लक्षण उद्भटानुसार ही है। इन्होंने भी लाटानुप्रास के पाँच ही भेद किए परन्तु ये अधिक सूक्ष्म रूप से उनका विवेचन करते हैं। मम्मट ने वृत्ति में लाटानुप्रास को 'पदानुप्रास' कहा है। इस अनुप्रास का सामान्य लक्षण 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' सिद्ध नहीं होता इसी कारण मम्मट के टीकाकार वामन झलकीकर ने इसे अनुप्रास का भेद मानने पर आपत्ति की है। इसकी स्वतन्त्र अलङ्कारता काव्यालङ्कारसारसंग्रह में सर्वप्रथम प्रतिपादित है। इसके पाँच भेदों का भी प्रथम निरूपण यहीं प्राप्त होता है। उद्भट के टीकाकारों का इस सम्बन्ध में इतना ही योगदान है कि इन्होंने इसके नामकरण के आधार की कल्पना करते हुए लाट देश में इसके अतिशय प्रयोग की स्थिति को रेखांकित किया।

---

1. शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः। का० प्र०, 9/81
   पदानां सः, पदस्यापि, वृत्तावन्यत्र, तत्र वा।
   नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः।। वही, 9/82
2. तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः। अ० स०,
   तात्पर्यमन्यपरत्वम्। तदेव भिद्यते, न तु शब्दार्थयोः स्वरूपम्।। वृत्ति
3. लाटानुप्रासभूभिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता।
   यत्र स्यान्न पुनः रात्रोर्गर्जितं तज्जितंजितम्।। च० आ०, 5/4

रूपक

इस अलङ्कार को विवेचित करते हुए भामह ने रूपक के विषय में सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से तादात्म्य की बात कही। उनका कथन है कि उपमान से उपमेय का जहाँ तादात्म्य गुण साम्य को देखकर निरूपित किया गया हो वहाँ रूपक अलङ्कार होता है।[1] दण्डी ने इसी बात को प्रकारान्तर से तथा और अधिक स्पष्ट रूप से कहा। यदि उपमा से ही भेद हटा दिए जाएँ तो वह रूपक हो जाती है।[2] आशय यह है कि उपमेय और उपमान के साम्य को उपमा कहते हैं और यही साम्य जब अभेद की स्थिति में आ जाए तो उसे रूपक अलङ्कार कहते हैं।

आचार्य उद्भट ने इस प्रकार के स्थलों में लक्षणा की स्थिति स्वीकार की है। उनके अनुसार श्रुत्या सम्बन्ध (अभिधा) की असंभावना में जब एक पद को अन्य पद के साथ गुणवृत्तिप्रधान (लाक्षणिक) सम्बन्ध से जोड़ा जाय तो उस सौन्दर्य को रूपक कहते हैं।[3] उद्भट का यह गुणवृत्तिप्रधानत्व एक नवीन कल्पना है। इंदुराज के अनुसार रूपक की स्थिति श्रौत भी हो सकती है और श्रौत तथा आर्थ भी। इसलिए क्रमशः इसके दो भेद हो सकते हैं। समस्त वस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति।[4] रूपक के यही दो भेद भामह ने किए थे। इन्होंने मालारूपक को ही समस्त वस्तु विषय कहा है तथा एकदेशवृत्ति नामक प्रभेद वहाँ होगा जहाँ प्रकृत का अप्रकृत रूप से रूपण किया गया हो।[5] गुणबोधक एक पद जहाँ दूसरे पद से संबद्ध हो वहाँ रूपकता होती है। यथा–रात्रिरूपी बालाएँ उस व्योमरूपी उद्यान को, जो तारारूपी पुष्पों से शबलित है, ज्योत्स्नाभाव भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहनेवाले धर्म हैं तो,[6] इनके अधिकरण भी अलग अलग ही होंगे, दोनों में अभेद नहीं हो सकता। इस तरह से यहाँ जो

---

1. उपमानेन यत्तत्वमुपमेपस्य रूप्यते।
   गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।। का० अ०, 2/21
2. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। का० आ०, 2/36
3. श्रुत्या सम्बन्ध-विरहाद् यत्पदेन पदान्तरम्।
   गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्।। का०सा०सं०, 1/21
4. बंधस्तस्य यतः श्रुत्या श्रुत्यर्थाभ्यां च तेन तत्।
   समस्तवस्तु-विषयमेकदेशविवर्ति च।। वही, 1/22
5. समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते।
   यद्वैकदेशवृत्ति पररूपेण रूपणात्।। वही, 1/25
6. ज्योत्स्नाम्बुनेन्दु कुंभेन ताराकुसुमशारितम्।
   क्रमशो रात्रिकन्याभिर्व्योमोद्यानम सिच्यत।। का०सा०स०, 1/23

समानाधिकरण्य-समान विभक्तिकता, जो अभेद का बोध कराती है, वह ठीक नहीं है। यहाँ अभेद लक्षणा द्वारा किया जाता है। लक्षणा के द्वारा अम्बु शब्द उदक का बोधक नहीं होकर शुक्लता आह्लादकता-प्रसरणशीलता आदि गुणों के सदृश ज्योत्स्नागत उन्हीं गुणों को व्यक्त करते हुए ज्योत्स्ना में व्याप्त हो जाता है। तो यहाँ 'अम्बु' शब्द गुणवृत्ति हुआ, क्योंकि वह अभिधा द्वारा ज्योत्स्नारूप अन्य पद से संबंध रख सकता है-पर ऐसा नहीं होता। अत: यहाँ रूपकता है। इसी दृष्यान्त को लेकर नील-उत्पल में अभिधा से होनेवाले संबंधाभाव के कारण नहीं, यहाँ नील गुणबोधक है। इस प्रकार से यहाँ रूपक नहीं होगा। लक्षणा के द्वारा अम्बु अपना अभिधेय अर्थ छोड़कर स्वगत शुक्लता, आह्लादकता अर्थ के सदृश ज्योत्स्नागत जो धर्म है- उसका ज्ञान कराता है। इस तरह से श्रुत्यासंबंध विरह होने से अम्बु शब्द गुणवृत्ति हुआ।

शुक्लताह्लादकादि के सब गुणों सदृश शुक्लताह्लादकता गुणवान अर्थवाला अम्बु शब्द ज्योत्स्ना अभिन्न हो सकेगा। इस प्रकार रूपक के लिए गुणवृत्ति शब्द का पदान्तर से योग होना अपेक्षित नहीं है, बल्कि श्रुत्यासंबंध विरह की भी अपेक्षा है। इस प्रकार नीलोत्पल में गुणवृत्ति नील का उत्पल हुए पदान्तर से योग होने पर भी रूपक नहीं होगा-क्योंकि यहाँ श्रुत्या संबंध-विरह नहीं है, क्योंकि यहाँ पर अभिधा वाले पदार्थों में अभेद बन जाता है। इंदुराज के मन में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि विरुद्धार्थाभिधायक समान-विभक्ति वाले शब्दों का अभिधाव्यापार से परस्पर समन्वय न होने के कारण दोनों में एक को लक्षणा पर निर्भर होना पड़ता है तो उसे गुणवृत्ति कहा जाता है। यहाँ पर 'अम्बु' शब्द को ज्योत्स्ना शब्द से समान विभक्तिवाला होने के कारण गुणवृत्ति होना पड़ा, इसी तरह 'ज्योत्स्ना' शब्द को भी अम्बु से अभेदबोधक समान विभक्ति वाला होने के कारण गुणवृत्ति करना पड़ेगा। इसी का निराकरण करने के लिए प्रधानेन शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रधान अर्थ के कारण गौण शब्द लक्षणा से गुणवृत्ति होता है प्रधान वह होता है जो शब्द प्राकरणिक अर्थ को ज्ञात कराने वाला प्रधान अर्थ प्रतिपादक ज्योत्स्ना शब्द हुआ, तो इस प्रकार अम्बु शब्द को ही अभेद संबंध की उत्पत्ति के लिए लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा। इस प्रकार अम्बु शब्द अप्राकरणिक अर्थ को व्यक्त कराने के कारण अप्रधानार्थक हुआ-अत: उसे ही गुणवृत्ति कहना आवश्यक है। अत: ज्योत्स्ना और अम्बु दोनों शब्दों के परस्पर अनुरोध से गुणवृत्ति करना पड़ेगा। पुन: एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'ज्योत्स्नांबुना' में ज्योत्स्ना को ही अप्रधान और अम्बु को प्रधान क्यों न कहा जाए? यह रूपक की निष्पत्ति के लिए किया गया है। यहाँ अम्बु ज्योत्स्ना है। इस प्रकार अम्बु विशेष्य है और ज्योत्स्ना विशेषण।

रुद्रट ने समासगत रूपक का समासगत उपमा से अंतर बताते हुए कहा कि जब उपमान एवं उपमेय का ऐसा समासात्मक प्रयोग किया जाय कि वहाँ उपमेय गुणभूत का अप्रधान हो और उपमान विशेष्य तो वहाँ रूपक का दूसरे प्रकार का समासोक्त भेद होता है।

माला रूपक को ही समस्त वस्तुविषयक कहा जा सकता है क्योंकि एक ही उपमेय एक ही साथ बहुत से रूपक व्यवस्थित कर दिए जाते हैं। यथा-भृंगमाला वन के एक भाग में स्थित देवताओं के केशपाश हैं, पथिकों की स्त्रियों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए काल की काली जंजीर है, तथा कामदेव की सेना के वीरों की खड्गलता है।[1] इस उदाहरण में आरोप विषय के रूप में केवल भृंगमाला ही उपात्त है और उसके लिए रूपणार्थ उपमान के रूप में तीन पदार्थ हैं-जिससे तीन रूपणाएँ की जा रही हैं। वनान्तदेवतावेण्य आदि ऐसे ही भाग हैं। इसलिए यहाँ समस्तवस्तुविषयता है, क्योंकि एक ही आरोप विषय पर अनेक उपमानों का आरोप मिले हुए रूप से किया जा रहा है। एकदेशविवर्ति की स्थिति वहाँ होती है जब उपमेय किसी और के रूप से रूपित हो। यथा-अत्यन्त वेग से बहने वाली वर्षा की धाराएँ जो नभोभाग में बिखरी हुई हैं, बाण है और उनके द्वारा उज्ज्वल मेघों ने आशा रूपी राज्य को प्राप्त कर लिया।[2] इस उदाहरण में वलाहक पर नृप का, आसारधारा पर विशिख, दिशा पर राज्य का और नभोभाग पर संग्रामभूमि का आरोप है। इसलिए एकदेशवृत्ति होगी।

राजानक तिलक ने यहाँ रूपक का मूल तत्त्व आरोप को मानते हुए एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि यह आरोप शब्द पर अर्थ का अथवा अर्थ पर शब्द का अथवा उभयपरक हो सकता है। इन तीनों ही सिद्धान्तों को मानने वाले आचार्य तिलक के समय में थे परन्तु उन्हें सिद्धान्तरूप में तृतीय पक्ष ही अभिमत है।[3] वामन ने अभेदरूपता को आरोप शब्द से अभिव्यक्त किया।[4] मूल रूप से यहाँ भी भामह तथा दण्डी की भावना ही प्रकारान्तर से प्रकट हुई है। रुद्रट का कथन है कि सामान्य धर्म के कथन के बिना ही जहाँ गुण की समानता के आधार पर उपमानोपमेय का

---

1. वनान्तदेवावेण्यः पांथस्त्रीकालशृंखला।
   मारप्रवीरासिलता भृंगमालाश्चकाशिरे।। वही, 1/26
2. आसारधाराविशिखैर्नभोभागप्रभासिभिः।
   प्रसाध्यते स्म धवलैराशाराज्यं बलाहकैः।। वही, 1/27
3. अत्र केचित् शब्दारोपपूर्वमर्थारोपं ब्रुवते। अपरे विपर्ययम्।
   अन्ये यौगपद्येनोभयम्। एष एव च युक्तः पक्ष इत्याहुः। वही, 1/21 पर वि०
4. उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्। का० सू० वृ०, 4/3/6

अभेद कल्पित किया जाय वहाँ रूपक की स्थिति होती है।[1] इस प्रकार इनका विवेचन पुनः दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट अभेदरूपता की बात का स्मरण कराता है। कुन्तक इसे ही उमपान के प्रति उपमेय के समर्पण के रूप देखते हैं।[2] इन्होंने भी भामहोक्त दो भेदों की स्वीकार किया है। भोज के अनुसार जब गौणीवृत्ति के सहारे उपमान वाचक शब्दों का उपमेय में संक्रमण हो, तो वहाँ यह अलङ्कार होता है।[3] उद्भट, कुंतक और भोज इन तीनों ने रूपक अलङ्कार में लक्षणा शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। इसी प्रसंग में उद्भट के टीकाकार इंदुराज का कथन है कि आरोप के संबंध में तीन कथन प्रसिद्ध हैं– (1) कुछ लोग शब्दारोपपूर्वक, अर्थारोपपूर्वक की बात करते हैं। (2) दूसरे लोग अर्थारोपपूर्वक, शब्दारोप की बात करते हैं। (3) तीसरे लोग शब्दारोप एवं अर्थारोप के यौगपद्य की बात करते हैं। मम्मट का कथन है कि उपमान एवं उपमेय का जो अभेद है, वही रूपक है।[4] रुय्यक ने इसके तीन वर्ग किए–भेदमूलक, अभेदमूलक तथा भेदाभेदमूलक। इन्होंने अभेदमूलक अलङ्कारों में सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया। उपमेय और उपमान का आरोप होता है। और उपमेय का स्ववाचक शब्द से उपादान रहता है।[5] जयदेव के अनुसार जहाँ उपमेयमयी भित्ति उपमान रूपी चित्र से रंग दी जाय, तो रूपक होता है।[6] इन्होंने रूपक के चार भेद किए–सोपाधिरूपक, सादृश्यरूपक, आभासरूपक तथा रूपितरूपक। विश्वनाथ का कथन है कि निषेधरहित विषय में अलङ्कार कहते हैं।[7] इन्होंने कुल मिलाकर रूपक के आठ भेद किए। रूपक के संबंध में दो प्रश्न उठाकर उनका समाधान किया। क्वचिद् सांगरूपक में भी आरोप्य विषय (उपमान) श्लिष्ट शब्दों द्वारा कहे जाते हैं। वहाँ सांगरूपक ही होगा, श्लिष्ट परम्परित नहीं। कारण यह है कि परम्परित रूपक की स्थिति तब होती है जब कारणभूत आरोप के बिना

1. यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरिभिदा।
अविवक्षितसामान्या कल्पयत इतिरूपकं प्रथमम्।। का०अ०, (रू), 8/38
2. उपचारैकसर्वस्वं यत्र (वस्तु) साम्यसमुद्वहत्।
यदर्पयति रूपं स्वं वस्तु तद् रूपकं विदुः।। व०जी०, 3/20
3. यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः।। स० क०, 4/24
4. तदरूपकमभेदोऽथ उपमानोपमेययो। का० प्र०, 10/93
5. अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयापह्नवे रूपकम्। अ०स०, पृ० 43
6. यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते।। च०आ०, 5/18
7. रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। सा०द०, 10/28

कार्यभूत आरोप अप्रसंगत सा मालूम होता हो।[1] रूपक के इस प्रकार कुछ भेद शब्दलेषमूलक है। फिर भी इसका वर्णन अर्थालङ्कार में होता है, क्योंकि इसमें रूपकत्व ही विशेषता है[2] और इनका चमत्मकार रूपक का चमत्कार है। इन्होंने अधिकारूढवैशिष्ट्य रूपक की चर्चा की जो लक्षण नाम प्रकाश है।[3] इस रूपक भेद में आरोप्यमाण (उपमान) की अपेक्षा आक्षेप विषय (उपमेय) में कुछ विशेषता अधिक होती है। अप्पयदीक्षित का कथन है कि जब विषय में विषयी का अभेद एवं तादूप्य वर्णित किया जाय तो रूपक अलङ्कार होता है।[4] पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर, शब्द द्वारा निश्चित की जाने वाली उपमेय में उपमान की एकरूपता ही रूपक है।[5] इनके लक्षण में नवीनता केवल शब्दाली की है। उपमेयतावच्छेदपुरस्कारेण विशेषण अपह्नुति, भ्रान्तिमान, अतिशयोक्ति और निदर्शना से रूपक को भिन्न सिद्ध करता है। 'शब्दात्' विशेषण का अभिप्राय 'आहार्य' अभेद से है, भ्रान्तिमान में आने वाले वास्तव अभेद से नहीं। 'निश्चीयमानम्' से उत्प्रेक्षा का निवारण होता है। 'उपमान' 'उपमेय' पदों से सादृश्य प्राप्त होता है।

रूपक की चर्चा भरत से आरम्भ होती है। इन्होंने रूपक के लक्षण में तीन विशेष बातें कही-(1) उपमा का आधार, सादृश्य है, परन्तु रूपक का आधार 'औपम्य' (2) उपमा का आधार गुणकृति है, परन्तु रूपक का आधार केवल गुण (3) उपमा में आकृति का सादृश्य है, रूपक में रूप-निर्वर्णना। भामह ने रूपक के लक्षण में 'गुणानां समता' के साथ-साथ अभेदरूपता को महत्त्व दिया और यह अभेद बाद में रूपक का मुख्य आधार बन गया। दण्डी ने अभेद-मात्र पर बल दिया है- उपमैव तिरोभूत भेदा रूपकमुच्यते। उद्भट ने सर्वप्रथम यह कहा कि रूपक में प्रस्तुताप्रस्तुत का समबन्ध लक्षणा पर निर्भर है। वामन ने भामह के आधार पर थोड़ा विस्तार रूप से रूपक के दो अंग गुणसाम्य तथा तत्त्वारोप बताये। मम्मट और रुय्यक ने अभेद पर जोर डाला तथा विश्वनाथ ने आरोप पर। मम्मट तथा रुय्यक ने सर्वप्रथम यह कहा कि 'गुणवृत्तिप्रधान' सम्बन्ध रूपक के निर्माण की धुरी है। उद्भट और उनके टीकाकार आचार्यों की इस शास्त्रार्थ परम्परा में उलझे हुए दिखाई देते हैं।

---

1. वही, (विमला, पृ० 307)
2. अत्र, केषांचिद रूपकाणां शब्दश्लेषमूलत्वेऽपि रूपकविशेषत्वाद् अर्थालङ्कारमध्ये गणनम्। वही, वृत्ति, पृ० 308
3. अधिकाररूढ़वैशिष्ट्यं रूपकं यत्, तदेव तत्। सा०द०, 10/34
4. विषच्यभेदताद्रुप्यरंजन विषयस्य यत्। कु०आ०, 17
5. उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्मयं रूपकम्। तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कार:। र०गं०, पृ० 297

उपमा

उपमा दाक्षिणात्य तथा रूपक औदीच्य परम्परा के प्रथम मान्य अलङ्कार हैं। इनमें से दाक्षिणात्य से संबंध भरत का है तथा औदीच्य से भामह का संबंध है।[1] दण्डी और वामन भरत का अनुकरण करते हैं, उद्भट भामह का।

वामन ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने दो शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त सभी को उपमाप्रपंच कहकर इस अलङ्कार की प्राणप्रतिष्ठा की।[2] कदाचित् स्वभावोक्ति, रसवत् आदि में अंलकारत्व नहीं मानने का भी यही कारण था कि इनमें उपमातत्त्व नहीं होता। इन्हीं बातों से प्रभावित होकर रुद्रट[3] तथा रुय्यक ने भी उपमा को अनेक अलङ्कारों का मूल माना।[4] अलङ्कारसर्वस्व के सञ्जीवनी टीकाकार[5] श्री विद्या चक्रवर्ती तथा अप्पयदीक्षित ने अनेक अर्थालङ्कारों को उपमाप्रपंच में समाहित किया।

अलङ्काररूप में उपमा के शास्त्रीय विवेचन का उपलब्ध प्राचीनतम स्रोत यास्क का 'निरुक्त' है जहाँ गार्ग्य के नाम से उपमा का विवेचन मिलता है।[6] भरत के अनुसार गुण और आकृति के आधार पर सादृश्यवश जहाँ किसी वस्तु को उपमित किया जाय, वहाँ उपमा अलङ्कार होता है।[7] गार्ग्य ने अतद् (उपमेय) का तद् (उपमान) के साथ सादृश्य को उपमा कहा है।[8] भामह के अनुसार देश-काल एवं क्रिया आदि दृष्टियों से भिन्न उपमान से जहाँ उपमेय का साम्य प्रदर्शित किया जाए वहां उपमा होती है।[9] यह साम्य वस्तु किसी एक गुण को लेकर प्रस्तुत कर दिया जाता है अन्यथा किसी भी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सर्वात्मना सादृश्य तो हो ही नहीं सकता।[10]

---

1. डॉ० जयशंकर त्रिपाठी, आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन, पृ० 304.
2. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः। का० सू० वृ०, 4/3/1
3. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवौपम्यातिशयश्लेषाः। का० अ० (रू), 7/9
4. उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूता। अ० स०, पृ० 26
5. अ० स० संजीवनी, पृ० 39-40
6. यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः। यास्क, नि० अध्याय 3
7. यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
   उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ना० शा, 44
8. अथातः उपमा।
   यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः। नि०, अ०-3
9. विरुद्धेनोपमानेन देश-काल-क्रियादिभिः।
   उपमेयस्य यत्साम्यं गुनलेशेन सोपमा।। का० अ०, 2/30
10. सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित।
    यथोपपत्ति कृतिभिरूपभासु प्रयुज्यते।। वही, 2/43

विश्वनाथ तक उपमा का भी कमोवेश यही स्वरूप मान्य रहा। इन्होंने सादृश्य के स्थान पर साम्य[1] का प्रयोग किया है। भरत का गुणकृतिसमाश्रय भामह का गुण साम्य ही है। भामह का कथन है कि उपमा के 'सामान्य-गुण निर्देश'[2] से सभी भेदों का विवेचन स्वयं हो गया इनका कथन उद्भट में उपमा का व्याकरण के अनुसार भेदविस्तार करने का आधार बन गया।

उद्भट ने भामह का अनुकरण किया है। इनका कथन है कि उपमा अलङ्कार में वह मनोहारी सादृश्य, उपमेय एवं उपमान के बीच होता है जिनके देश, काल, जाति, गुण, क्रिया आदि परस्पर भिन्न होते हैं।[3] उद्भट का 'मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोः' भामह के देशकालाक्रियादिभिर्विरुद्धेन' इस कथन से प्रभावित है। भामह ने 'साम्य' तथा उद्भट ने 'चेतोहारित्व' पद का प्रयोग कर उपमा के लक्षण में नये विचार का आधान किया है। यद्यपि अलङ्कार होने के कारण उपमा में चेतोहारित्व प्राप्त ही है अतः यह विशेषण स्वतः प्राप्त वस्तु का अनुवाद ही है तथापि 'गौरिव गौः' जैसे स्थलों में विशेष चमत्कार के अभाव में यह अलङ्कार नहीं बनता।

उद्भट के टीकाकार इंदुराज ने इसका विस्तृत विवेचन किया है। इनका कथन है कि यथा इव शब्दों के प्रयोग किये जाने पर उपमा (साधर्म्य) शब्दतः संबद्ध हो जाती है, इस तरह से श्रौती और आर्थी उपमा के दो भेद हुए। संक्षिप्त रूप में कही जाने वाली संक्षेपोपमा या लुप्तोपमा साम्यवाचक के तथा उपमानोपमेय भाववाचक इव आदि के लुप्त होने से (एक लुप्ता) दो प्रकार की होती है। उपमान और उपमेय का ही कथन होने पर साम्यवाचक तथा उपमानोपमेयभावबोधक इव आदि के होने पर द्विलुप्तोपमा होती है। तथा समास में साम्यवाचक, उपमेयवाचक तथा उपमानोपमेयवाचक का लोप होने पर त्रिलुप्तोपमा होती है।[4] उपमान से आचार अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय के द्वारा की गई कथन में कहीं कर्तृवाचक शब्द से आचार अर्थ में किये गये क्यङ् प्रत्यय की उक्ति से, कहीं उपमान (कर्ता) से आचार अर्थ में किये

1. साम्यं वाच्यमवैधर्म्य वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। सा० द०, 10/14
2. सामान्य-गुण निर्देशात् त्रयमप्युदितं ननु।
मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा।। का० अ०, 2/38
3. यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरूपमा तु तत्।। का० सा० सं०, 1/32
4. उपमानोपमेयोक्तौ साम्यतद्वाचि विच्यवात्।
क्वचित्समासे तद्वाचिविरहेण क्वच्चि सा।। वही, 1/35

गये क्विप् प्रत्यय के कारण से भी संक्षेपोपमा होती है।[1] इसे ही लुप्तोपमा कहते हैं। उपमा का दूसरा भेद पूर्णा है। जब उपमान, उपमेय दोनों का साधारण धर्म सौन्दर्य आदि तथा उपमानोपमेय भाव का द्योतक इव आदि होता है। पूर्णा के तीन प्रकार होते हैं–वाक्यावसेय, समासावसेय, तद्धितावसेय। पुनः वाक्यावसेय के दो भेद होते हैं–श्रौत तथा आर्थ। श्रौती का निश्चय अव्यय (यथा, इव, वा) से होता है। क्योंकि अव्यय की विभक्ति का लोप हो जाता है। उपमान और उपमेय दोनों की उपमिति, क्रिया का विषय होने से कर्मकरणभावात्मक संबंध का द्योतन करता है। ऐसी स्थिति में श्रौती उपमा होती है। यथा–क्षण कामज्वरोत्थित्यै[2] आदि में चन्द्रमा की चाँदनी उपमेय है चन्दन उपमान है। कामज्वरोत्थानकारणता, संतापवर्द्धकता तथा अनवस्थितिकारिता साधारण धर्म है। यथाशब्द अव्यय है इसलिए इसकी विभक्ति का लोप है–इसलिए उपमान और उपमेय दोनों का अवद्योतन करता है। इसलिए यह पूर्णा और श्रौती दोनों हुआ। जब उपमा सदृश इत्यादि शब्दों से युक्त होने पर, उसमें उपमान और उपमेय दोनों की शब्दतः प्रतीति नहीं होने पर आर्थी होती है। यथा–प्रबोधाद्धवलं रात्रौ[3] आदि पंक्ति में चन्द्रबिम्ब शश से लांछित होने के कारण कृष्णोदर होता है उसी तरह से कुमुदकानन भी अपने पराग पर भ्रमर के लिपट जाने से कृष्णोदर प्रतीत होता है। इस असितोदरता (मध्यमभाग का काला होना) रूपधर्म की दृष्टि से देखने पर इसमें उपमा का एक अंश लुप्त होगा तो इस तरह से लुप्तोपमा कहलाएगा।

'अपि सा सुमुखी' इत्यादि उदाहरण में[4] अनभ्रवृष्टि उपमान है। सुमुखी उपमेय है अप्रार्थितोपसम्पन्नता और दृष्टिगोचर स्थिति साधारण धर्म है। यहाँ 'वति' प्रत्यय क्रिया से युक्त होकर साम्य के अर्थ में उपमेय से शब्दोपात्त क्रिया द्वारा संबद्ध होता हुआ सादृश्य की पर्यालोचना से उपमान की उपमानता का बोध कराता है। इस तरह से अर्थतः उपमानोपमेयभाव है तो यहाँ सम्पूर्णा, आर्थी तद्धितावसेया उपमा हुई।

---

1. तथोपमानादाचारे क्यच्प्रत्ययोबलोक्तितः।
   क्वचित्सा कर्तुराचारे क्यङा साच क्विपा क्वचित्।। वही, 1/36
2. क्षणं कामज्वरोत्थित्यै भूयः संतापवृद्धये।
   वियोगिनामभूच्चान्द्री चन्द्रिकां चंदनं यथा। वही, 1/39
3. प्रबोधाद्धवलं रात्रौ किञ्जल्कालीनषट्पदम्।
   पूर्णेदुबिम्बप्रतिभमासीत्कुमुदकाननम्।। वही, 1/41
4. अपि सा सुमुखी तिष्ठेद्दृष्टेः पथि कथञ्चन।
   अप्रार्थितोपसंपन्ना पतितानभ्रवृष्टिवत्। वही, 1/43

'किं स्युरुत्कलिका' आदि उदाहरण में[1] वति प्रत्यय इव के अर्थ में ज्ञात होने से 'इव' शब्द की तरह उपमान और उपमेय में से किसी एक से ही अन्वित होकर निराकांक्ष नहीं होता हुआ शब्दतः उभयत्र उपमानोपमेयभाव का द्योतन करता है। इस तरह से यहाँ पूर्णा श्रौती तथा तद्धितावसेया उपमा है। वाक्यावसेय तथा तद्धितावसेय इन दोनों के प्रत्येक के श्रौत तथा आर्थ दो-दो भेद हैं।

समासावसेय आर्थ एक प्रकार की ही है। इस प्रकार पूर्णोपमा के पाँच प्रकार हुए। लुप्तोपमा जिसका एकदेश लुप्त होता है वही संक्षेपोपमा है और उसके भी पाँच प्रकार हैं-वाक्यावसेय, समासावसेय, सुब्धातुगत, कृदवसेय, तद्धितावसेय।

'इति काले कलोल्लापि'[2] इत्यादि पंक्ति में 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्र के द्वारा उपमान का साधारणधर्म वाचक के साथ समास है- इस समास के द्वारा इव आदि अर्थ की अवगति हो जाती है। इस प्रकार इव आदि शब्द का लोप होने के कारण लुप्तैकदेशा उपमा हुई। तीन अवयवों का लोप होने पर साधारण धर्म के वाचक, उपमेयवाचक एवं उपमानोपमेय भाव के वाचक इव आदि का सहप्रयोग नहीं होने पर समासवर्तिनी संक्षेपोपमा होती है।

सुब्धातु प्रत्ययावसेय उपमा तीन प्रकार के होते हैं- क्यच् प्रत्ययावसेय, क्यङ्प्रत्यावसेय तथा क्विपप्रत्ययावसेय। पुनः क्यच् प्रत्येयावसेय के भी दो प्रकार होते हैं-जिस तरह से समास में संक्षिप्त रूप से अभिहित उपमा समास के सामर्थ्य से अवगम्यमान होती हुई निबद्ध की जाती है उसी प्रकार किसी विषय में उपमान भूतकर्म अथवा अधिकरणात्मक कर्मबोधक शब्द से आचार अर्थ में सौत्र और औपसंख्यानिक जो क्यच् प्रत्यय ज्ञात होता है उसके सामर्थ्य से निश्चित की जाती हुई निबद्ध होती है। यथा-'स दुःस्थीयन् कृताथोऽपि[3] आदि पंक्ति में दुःस्थ (दरिद्र) उपमान है और भगवदात्मा भगवान उपमेय है 'आचार' जो क्यच् प्रत्यय द्वारा उपात्त है साधारण धर्म है। उपमान (दुःस्थ) तथा साधारण धर्म (आचार) शब्दतः हैं परन्तु

1. किं स्युरूत्कलिका मद्क्तस्या अपि निर्गलाः।
अकाण्डोड्डामरानङ्गहतकेन समर्पिताः। वही, 1/42
2. इति काले कलोल्लापि कादम्ब कुल संकुले।
त्रिदशाधीशशार्दूलः पश्चात्तापेन धूर्जटिः।। वही, 1/44
तां शशिच्छायवदनां नीलोत्पलदलेक्षणाम्।
सरोज कर्णिकागौरीं गौरीं प्रति मनो दधौ। वही, 1/45
3. स दुःस्थीयन कृतार्थोऽपि निःशेषैश्वर्यसंपदा।
निकामकमनीयेऽपि नरकीयते कानने। वही, 1/46

उपमेय (आत्मा) और उपमानोपमेयभाव की सामर्थ्यतः अवगति होती है। इसलिए यहाँ दोनों के आर्थ रूप होने से दो अवयवों का लोप होने पर सुब्धातुगत उपमा होती है वहाँ कर्त्ता उपमान होता है। कर्तुबोधक से आचार अर्थ में किए गए क्यङ् प्रत्यय से उपमा होती है। यथा–'कृशानुवज्जगत्तस्यपश्यतस्तां' आदि उदाहरण में तत्त्वज्ञान का अर्थ है पदार्थ के स्वरूप का पूर्णरूपेण ज्ञान उत्कृष्ट है। अर्थात् तेज ही उपमेय है। क्यङ् प्रत्यय द्वारा बोधित आचार साधारण धर्म उपमानोपमेयभाव क्यङ् प्रत्यय से ज्ञात होता है। कहीं किसी विषय के संबंध में संक्षेपोपमा क्विप् प्रत्यय द्वारा होता है यथा–कृशानुवज्जगदित्यादि कृत्यप्रत्यय के द्वारा निश्चेय संक्षेपोपमा दो प्रकार की होती है–कर्मोपमानिका तथा कर्त्तपमानिका।

'तस्येतत्मनोदाहमदहत्प्रज्वलन्मनः'[1] आदि उदाहरण में एक अवयव का लोप होने पर संक्षेपोपमा हुई, जहाँ कर्म उपमान के रूप में प्रयुक्त है और ण्मुल् नामक कृत्प्रत्यय से उस उपमा का निश्चय है।

'स दग्धविग्रहेणापि'[2] आदि उदाहरण में ण्मुल् प्रत्यय के सामर्थ्य से इव आदि का प्रयोग नहीं होने पर भी उपमानोपमेयभाव का निश्चय हो जाता है। यहाँ एक अवयव का लोप होने पर संक्षेपोपमा का वह रूप है जहाँ कर्त्ता उपमान होता है और उपमा कृत्प्रत्यावसेय होती है।

तद्धित प्रत्यय के द्वारा निश्चित प्रतीत होनेवाली उपमा वति प्रत्यय के द्वारा अभिहित होती है। यथा–'चण्डालकल्पे कंदर्प'[3] आदि उदाहरण में क्रौर्य आदि धर्म स्ववाचक शब्द से नहीं कहे जाने पर भी अर्थतः प्रतीत हो ही जाते हैं। इसलिए एक अवयव का लोप होने पर तद्धित प्रत्यय से प्रतीत होने वाली संक्षेपोपमा हुई।

इस प्रकार उपमा के कुल इक्कीस भेद राजानक तिलक के द्वारा निर्दिष्ट किए गए हैं।[4] इनमें छः भेद पूर्णोपमा के तथा पन्द्रह भेद लुप्तोपमा के हैं। इन सबका

---

1. तस्येतत्मनोदाहमदहत्प्रज्वलन्मनः।
   उमां प्रति तपः शक्त्या कृष्टबुद्धेः स्मरानलः। वही, 1/48
2. स दग्धविग्रहेणापि वीर्यमात्रस्थितात्मना
   स्पृष्टः कामेन सामान्यप्राणिचिन्तमचिन्तयत्। वही, 1/49
3. चाण्डालकल्पे कंदर्प प्लुष्ट्वा मयि तिरोहिते।
   संजातातुलनैराश्या किं सा शोकान्मृता भवेत्। वही, 1/50
4. एषा च द्विभेदा। संक्षेपाभिहिताप्येषेत्युक्तेः। पूर्णा लुप्ता च।
   आद्या त्रिधावाक्यसमासतद्धितगम्यत्वात्। प्रत्येकं श्रौतत्वार्थत्वभेदात् द्वैविध्यम् एवं षट् पूर्णाभेदाः। लुप्तायास्तु वाक्यसमाससुब्धातुकृत्तद्धितावसेयत्वात् पाञ्चविध्यम् वाक्यगम्यायाः

आधार प्राय: व्याकरण है। वाक्य, समास तथा तद्धितगत पूर्णोपमा श्रौती और आर्थी के भेद से दो-दो प्रकार की होकर छ: प्रकार की बनती है। एकलुप्ता दो प्रकार की वाक्यगम, तीन प्रकार की समासगम्य, तीन प्रकार की सुब्धातुगम्य, दो प्रकार की कृद्गम्य तथा एक प्रकार की हुई। द्विलुप्ता समासगम्य एक प्रकार की तथा सुबधातुगम्य दो प्रकार की। कुल मिलाकर तीन प्रकार की बनती है। त्रिलुप्ता का एक भेद मिलाकर लुप्तोपमा के कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

वामन ने भामह के अनुसार लक्षण किया है। इनके अनुसार गुण के लेश से उपमान के साथ उपमेय के साम्य को उपमा कहते हैं।[1] रुद्रट ने उपमेय एवं उपमान में समान साधारण धर्म के कारण समता के प्रतीत होने को उपमा कहा है।[2] कुन्तक इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वर्णनीय पदार्थ के स्वभाव की सुन्दरता की सिद्धि के लिए उस (सौन्दर्य) के उत्कर्ष के साथ किसी वस्तु के साथ समानता करना ही उपमा है।[3] भोज ने दो पदार्थों में प्रसिद्धि के कारण परस्पर अवयव की समानता के योग के वर्णन को उपमा कहा है।[4] उपमेय तथा उपमान में भेद होने पर उनके साधर्म्य के नाम को उपमा कहा।[5] इनके लक्षण में उद्भट तथा भामह का प्रभाव है। रुय्यक ने तीन प्रकार के साम्य की स्थिति को स्वीकार किया है-भेदप्रधान जैसे व्यतिरेक में अभेदप्रधान साम्य जैसे रूपक में और भेदाभेद तुल्यत्व उपमा में। साधर्म्य के कारण

श्रौतत्वार्थत्वभेदात् द्वैविध्यम्। समासगम्यायाश्च एकद्वित्रिलोपभेदात् साधारणधर्मलोपे श्रौतत्वार्थत्वभेदात द्वौ भेदौ द्योतकलोपे त्वेक इत्येकलोपस्य भेदत्रयसद्भावात् पाञ्चविध्यम् सुब्धातुगम्यायास्तु क्यच्-क्यङ्क्विप-प्रत्ययगम्यत्वात् क्यच्प्रत्ययगम्यायाश्च कर्माधिकरणोपमानत्वात् कर्मोपमानिकायाश्च एकद्विलोपात्मभेदद्वयक्त्वात् पाञ्चविध्यम् कर्मकर्त्रुपमानत्वेन कृदवसेया द्विधा। तद्धितगम्या त्वेकैव। एव पञ्च (दश) लुप्ताभेदाः। पूर्णाभिः सहैकविंशतिः।

1. उपमानोपमेयस्य गुणलेशत: साम्यम् उपमा। का० सू० वृ०, 4/2/1
2. उभयो: समानमेकं गुणादिसिद्धं भवेद्यथैकत्र।
   अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा । का० अ० (रू) 8/4
3. विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये।
   वस्तुन: केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा। व० जी०, 3/30
4. तत्प्रसिद्ध्यनुरोधेन य: परस्परमर्थयो:।
   भूयोऽवयवसामान्ययोग: सहोपमा मता। स० क०, 4/5
5. साधर्म्यमुपमाभेदे।
   उपमानोपमेययोरेव नतु कार्यकारणादिकयो: साधर्म्य भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा। भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय। का० प्र०, 10/87

उपमेय एवं उपमान में भेदाभेद तुल्यत्व को दिखाना ही उपमा है।[1] जयदेव ने उपमान एवं उपमेय में सादृश्य के शोभा प्रकाशन को उपमा कहा है।[2] विश्वनाथ का कथन है कि एक वाक्य में दो पदार्थों का वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य उपमा है।[3] अप्पयदीक्षित के अनुसार जब सादृश्य या समानता के वर्णन में उपमिति क्रिया की उत्पत्ति होती है तब उपमा होती है।[4] जगन्नाथ ने सुन्दरता शब्द पर ज्यादा जोर दिया है। इनका कथन है कि वाक्य के अर्थ को सुशोभित करनेवाला सुन्दर सादृश्य ही उपमा है।[5] अस्तु।

उपमा के स्वरूप को लेकर कोई मतभेद नहीं है। आचार्य गार्ग्य से लेकर अन्त तक इसका स्वरूप लगभग वैसा ही बना रहा। प्रारंभिक युग में थोड़ा-बहुत मतभेद होने पर भी इसका महत्त्व प्राय: आलङ्कारिकों के द्वारा स्वीकृत किया जाता रहा है। अर्थालङ्कारों में इसका स्थान सर्वोपरि है। हाँ, विवाद इसके भेदविभाजन को लेकर अवश्य रहा है जबकि आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से इसके वर्गीकरण का प्रयास किया। इस सन्दर्भ में उद्भट का योगदान यह बनता है कि इन्होंने व्याकरण के आधार पर सर्वप्रथम उपमाप्रपञ्च को वर्गीकृत किया तथा उनके दोनों ही टीकाकारों ने बड़ी तन्मयता के साथ उदाहरण प्रत्युदाहरण देते हुए इसे परिपुष्ट किया यद्यपि ऐसा नहीं है कि उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा इनकी मान्यताओं को यथावत् स्वीकार ही कर लिया गया हो परन्तु व्याकरण के आधार पर उपमा के भेदविभाग की संकल्पना पर इनका कुछ उपकार अवश्य है।

दीपक

भरत का कथन है कि किसी एक धर्म के द्वारा नानाधिकरणों के एकवाक्येन संयोग से दीपक होता है।[6] भामह ने इसका लक्षण नहीं दिया। अर्थसौन्दर्य को उद्दीप्त करने के कारण यह सौन्दर्यविधा अन्वर्थनामा है।[7] इन्होंने आदि, मध्य, अन्त तीनों

---

1. उपमानोपमेययो: साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा। अ० स०।।
2. उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयो:।
   हृदये खेलतोरुच्चैस्तनवङ्गीस्तनयोरिव। च० आ०, 5/11
3. साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमो द्वयो:। सा० द०, 10/14
4. उपमितिक्रियानिष्पादको व्यापार: सादृश्यवर्णना। चि०मी०, वाणीविहार प्रकाशन, पृ० 68
5. सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृति:। .गं०, पृ० 204
6. नानाधिकरणार्थानां शब्दानां संप्रकीर्त्तिम।
   एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमिष्यते।। ना०शा०, 16/60
7. अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्। का०अ०, 2/26

भेदों का विवेचन किया तथा बताया कि ये सभी भेद क्रिया की भिन्नता के कारण उद्भूत होते हैं। दीपक में अर्थ का दीपन होता है।[1] दण्डी के अनुसार एक ही द्रव्यवाचक पद के द्वारा पूरे वाक्य के अन्वित हो जाने से दीपक होता है।[2] इन्होंने भरत के धर्म के स्थान पर जाति, द्रव्य, क्रिया एवं गुण का उल्लेख किया। इन्होंने क्रिया की आदि, मध्य एवं अन्त की स्थिति को भी भामह की भाँति ही मान्यता दी। दण्डी ने इसके कई भेदों का वर्णन करते हुए दीपक अलङ्कार की सीमा का विस्तार भी किया। मालादीपक, विरुद्धार्थदीपक, एकार्थदीपक, श्लिष्टार्थ दीपक, आवृत्ति दीपक आदि भेदों का कथन किया गया तथा आवृत्ति दीपक के पद, अर्थ एवं पदार्थवृत्ति नामक भेदों की कल्पना हुई। इनके द्वारा उद्भावित मालादीपक एवं आवृत्ति दीपक आदि भेद बाद के आचार्यों द्वारा भी स्वीकृत हुए और उनका स्वरूप भी वही रहा।

उद्भट का कथन है कि दीपक वहाँ होता है जहाँ ऐसे धर्मों का प्रयोग हो, जिनका उपमानोपमेयभाव शब्दतः न कहा गया हो, उपमेय एवं उपमान के साथ संबंध रखने से जो प्रधान अथवा अप्रधान भाव का भी संवहन करता हो तथा कभी आदि कभी मध्य और कभी अंत में स्थित हो।[3]

शीत ऋतु ने कदम्बकुसुम की शोभा तथा विरहिणियों की निखिल सुख सम्पत्ति दोनों का अपहरण कर लिया।[4] इस उदाहरण में शरत्काल शब्द का अर्थ शरत् समय तो है ही, श्लेष के बल से वहाँ अन्तक रूप अर्थ की भी क्षलक है, क्योंकि संहार अन्तक का ही कर्म है। यहाँ पहले वाक्य में संजहार क्रिया का उपनिबंधन है, दूसरे वाक्य में तो आनुषंगिक रूप से उसका उपयोग है। यहाँ धर्म वाक्य के आदि में है इसलिए यह आदि दीपक है।

प्रवासियों के लिए विदेश का निवास तथा विरहिणियों का दर्शन दुःखकर हुए शरत् ऋतु भी।[5] इस आन्तरालिक वाक्य में प्रवासियों के लिए एकमात्र दुःख हेतुता

1. आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
   एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद भिद्यते त्रिधा।। वही, 2/25
2. जातिक्रियागुणद्रव्यावाचिनैकत्रवर्तिना।
   सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा।। का० आ०, 2/97
3. आदिमध्यान्तविषयाः प्रधान्येतरयोगिनः।
   अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः।। का० सा० सं०, 1/28
4. संजहार शरत्कालः कदम्बकुसुमश्रियः।
   प्रेयोवियोगिनीनां च निःशेषसुखसम्पदः।। वही, 1/29
5. विदेशवसतिर्यातपतिका जनदर्शनम्।
   दुःखाय केवलमभूत शरच्चासौ प्रवासिनाम्।। वही, 1/30

ही साधारण धर्म के रूप में प्रयुक्त है और पहले उदाहरण की भाँति आदिम और अंतिम वाक्यों का उपजीव्य है। इस उदाहरण में साधारण धर्म मध्य में स्थित है अतः यह मध्य दीपक हुआ।

कांता का मुखचन्द्र और चंद्र जो उदीयमान लावण्य ज्योत्स्ना की राशि से उद्वेल हो रहे हैं-किसके लिए आनन्दकर नहीं है।[1] इस उदाहरण में इंदु प्राकरणिक है, क्योंकि शरत् समय का वर्णन प्रस्तुत है पर कान्ता का आनन्दचंद्र अप्राकरणिक है। सर्वसुख हेतुता साधारण धर्म है जो अन्त में उपनिबद्ध है। इस तरह से यहाँ अंत दीपक है। ये सभी भेद भामह द्वारा ही गिना दिये गये थे। उद्भट ने उन्हीं को नये उदाहरणों से प्रस्तुत कर दिया परन्तु आगे चलकर रुद्रट ने क्रियादीपक और कारकदीपक की संकल्पना प्रस्तुत की। पुनरपि उद्भट ने दीपक के लक्षण पर कुछ ध्यान देने वाली बातें कही हैं।

1. दीपक में उपमानोपमेयभाव रहता है। सभी उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने 'उपमानोपमेयभाव' को दीपक के लक्षण में स्थान दिया है।
2. धर्मों के एक बार कथन में दीपक अलङ्कार है, अनेक बार कथन में प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार का सौन्दर्य बन जाएगा।
3. दीपक में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों के समान धर्मों का कथन होता है केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत के समान धर्मों का नहीं।

उद्भट ने भामह की अपेक्षा दीपक की एकाधिक स्वरूप बोधक विशेषताओं और भेदों का उल्लेख किया है। भामह के अनुसार इस अलङ्कार में उपमानोपमेयभाव के अंतर्गत अर्थात् आर्थ (व्यंग्य) रहता है, शब्दतः उक्त नहीं होता। इंदुराज ने इसके स्वरूप को और अधिक विशद करते हुए कहा है कि धर्मों का एक ही बार प्रयोग हो, तो निश्चय ही वहाँ प्रतिवस्तूपमा नाम का अलङ्कार होता है। ये धर्म मुख्यतः तो उपमेय के उपकारार्थ प्रयुक्त किए जाते हों, पर वे उपमान को भी दीपक की तरह प्रकाशित कर देते हैं। अतः इस अलङ्कार को दीपक अलङ्कार कहते हैं। धर्मों का एक ही बार प्रयोग हो दीपक के विषय में अलग से यह इंदुराज को कहना पड़ा। राजानक तिलक ने यहाँ दीपक और तुल्ययोगिता में दीपित समस्त धर्म प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक होते हैं, दीपक में दोनों का उद्दीपन होता है।

---

1. तदानीं स्फीतलावण्यचन्द्रिकाभरनिर्भरः।
कान्तानेन्दुरिन्दुश्च कस्य नान्दकोऽभवत्।।। का० सा० सं०, 1/31

मम्मट ने उद्भट की परम्परा में दीपक का विवेचन किया। क्रियादीपक तथा मालादीपक भेद दण्डी में ही आ गये थे, उद्भट ने 'अन्तर्गतोपमा धर्मा:' लिखकर उपमेयोपमान भाव का सन्निवेश कर दिया था, रुद्रट ने कारकदीपक भेद का विवेचन किया, मम्मट ने प्राचीन आचार्यों के विचार का समाहार कर दिया। रुय्यक ने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के एक धर्म संबंध को दीपक अलङ्कार कहा है। जिस प्रकार एक स्थान पर रखा हुआ दीपक उस स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार प्राकरणिक और अप्राकरणिक के मध्य कहीं भी एकत्र निर्दिष्ट धर्म अन्य के साथ एकत्रित रहते हैं। उनके विवेचन पर उद्भट का प्रभाव स्पष्ट है। विश्वनाथ ने दीपक का विवेचन उद्भट और रुय्यक के अनुसार किया परन्तु इन्होंने आदि, मध्य व अन्त भेदों को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि इस तरह से सहस्रों भेद हो जाएँगे।[1] मालादीपक का वर्णन कारणमाला के अनन्तर और एकावली से पूर्व रुय्यक के अनुसार किया है। हेमचन्द्र दीपक से पृथक् तुल्ययोगिता का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। जबकि पंडितराज जगन्नाथ ने तुल्ययोगिता में ही दीपक के अन्तर्भाव का प्रयास किया है।

भरत, भामह तथा दण्डी के अनुसार 'एकत्रवर्ती धर्म' पद का प्रयोग किया है। उद्भट ने दीपक को नवीन अर्थ प्रदान किया कि संयोग में सादृश्य एवं उपमानोपमेयभाव विद्यमान रहता है और उद्भट के द्वारा निर्दिष्ट यही विशेषता अब तक दीपक के लक्षण के संबंध में मुख्य आधार मानी गयी। वामन ने इस लक्षण में 'एकाक्रिया' को जोड़ दिया तथा रुद्रट ने कारक को जिसका समर्थन मम्मट ने भी किया है। टीकाकार इंदुराज ने सामान्य धर्मों के एक ही बार प्रयोग की बात जोड़ी। जबकि राजानक तिलक तुल्ययोगिता और दीपक का विवेचन करने में सचेष्ट हैं। उनकी यह बात स्वीकृत भी हुई, केवल हेमचन्द्र और जगन्नाथ में आकर इस पर प्रश्न चिह्न लगाए गये। पुनरपि इसके स्वरूप की व्यवस्था तथा भेद विभाग में उद्भट तथा तुल्ययोगिता से इसके पार्थक्य के सन्दर्भ में राजानक तिलक की उपजीव्यता सिद्ध है।

प्रतिवस्तूपमा

भामह ने प्रतिवस्तूपमा का विवेचन उपमा के एक भेद के रूप में किया। इनके अनुसार यथा, इव आदि शब्दों के प्रयोग न होने पर भी समान वस्तु का विन्यास

---

1. अत्र च गुणक्रिययो: आदिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम्। तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधा संभवात्। सा० द०, 10/49, पर पृ० 329.

किया जाय तो गुण की समता की प्रतीति के कारण प्रतिवस्तूपमा होती है।[1] दण्डी के अनुसार जब प्रस्तुत पदार्थ का वर्णन कर तत्सदृश धर्मवाले अन्य पदार्थ का वर्णन किया जाय तो प्रतिवस्तूपमा होगी।[2] दण्डी के द्वारा कृत लक्षण न्यूनाधिक भामह के अनुसार ही हैं। उद्भट के अनुसार उपमेयोपमान के प्रसंग में साधारण धर्म का अनेक बार कथन ही प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है।[3]

उपमा कहीं तो इव आदि शब्दों से साक्षात् प्रतीत होती है, कहीं शब्दसंस्कारवश लक्षित होती है और कहीं केवल शब्दसमर्पित अर्थ की सामर्थ्य से व्यक्त होती है। ''चन्द्र इव मुखमस्या:'' इत्यादि प्रयोगों से इसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। कहीं कहीं तो तत्तत् प्रकार के विशिष्ट संस्कार की सहायता से शब्द पहले अपना वाच्यार्थ प्रदान करते हैं और फिर वाच्यार्थ प्रतीति द्वारा लक्ष्यमाण सादृश्य या उपमा की प्रतीति होती है-यथा 'शस्त्री श्यामा' इस प्रयोग में समास होने के कारण यद्यपि मूल शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया फिर भी अर्थ सामर्थ्यवश ही उपमा की प्रतीति होती है। रूपक, दीपक एवं प्रतिवस्तूपमा आदि अलङ्कारों में भी इसी प्रकार शब्द परिवर्त्तन के अभाव में अर्थसामर्थ्यवश ही उपमा की प्रतीति हुआ करती है। प्रतिवस्तूपमा में केवल अर्थ की महिमा से उपमानोपमेयभाव की अवगति हो जाती है। उदाहृत पद्य में[4] एक वर्ष में आने-वाली बारह रात्रियाँ, जिसमें एक पूर्णचन्द्रमा उदित होता है, उपमान है। शील एवं सौन्दर्य के संभार, पूरे विश्व में उत्कृष्ट कतिपय प्राणी ही उपमेय है। साधारण धर्म है-विरलता। वह धर्म उपमान के सन्निधान में 'कियत्य:'- कितने, इस रूप में उपात्त है। इव आदि का उपादान न होने पर भी प्राकरणिकता तथा अप्राकरणिकता की पर्यालोचना करने पर यहाँ उपमानोयमेयभाव का निश्चय होता है। इसी कारण इसे वस्तु-वस्तु में साधारण धर्म का लगाव होने से प्रतिवस्तूपमा कहते हैं।

---

1. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
   यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्य प्रतीतित:।। का० अ०, 2/340
2. वस्तुकिञ्चिदुपन्यस्य न्यसनात् तत्सधर्मण:।
   साम्य प्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा।। का० आ०, 2/46
3. उपमान संनिधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्यत्र।
   उपमेयस्य च कविभि: सा प्रतिवस्तूपमा गदिता।।
   प्राकरणिकेतरत्वस्थित्यैकश्चोपमेयतां लभते।
   उपमानत्वं चापर इत्युपमावाचि शून्यत्वम्।। का० सा० सं०, 1/22, 23
4. विरलास्तादृशो लोके शीलसौंदर्यसंपद:।
   निशा: कियत्यो वर्षेऽपि यास्विंदु पूर्णमण्डल:। वही, 1/53

प्रतीहारेंदुराज ने 'प्रतिवस्तूपमा' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की–वस्तु-वस्तु इति प्रतिवस्तु। वस्तु-वस्तु में साधारण धर्म का प्रयोग होने के ही कारण इसे प्रतिवस्तूपमा कहते हैं। वामन के अनुसार उपमानोपमेय के सन्निधान में जहाँ साम्यवाचक शब्द का अनेक बार बुधों में अनेकधा प्रयोग किया हो, वहाँ यह अलङ्कार होता है।[1] इनके लक्षण पर भामह का प्रभाव है। वृत्ति में उपमा और प्रतिवस्तूपमा का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्यार्थ होते हैं जबकि उपमा में एक ही।[2] मम्मट के अनुसार जहाँ एक ही साधारण धर्म की उपमेय एवं उपमान दो वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्द अर्थात् शब्दान्तर से स्थित हो तो वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होगा।[3] मम्मट का लक्षण प्रतिवस्तूपमा को वास्तविक रूप प्रकट करता है और इसका परवर्ती विकास इसी के आधार पर हुआ। मम्मट ने इसके रूप में नई व्यवस्था दी। रुय्यक के लक्षण पर मम्मट का प्रभाव है। इन्होंने साधर्म्य के साथ ही साथ वैधर्म्य में भी प्रतिवस्तूपमा की स्थिति स्वीकार कर नया विचार दिया। परन्तु इन सबके मूल में भामह और उद्भट की उपजीव्यता निर्विवाद है।

निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि उद्भट से पूर्ववर्ती आलङ्कारिक प्रतिवस्तूपमा को उपमा के भेद के रूप में विवेचन करते हैं। यहाँ तक कि उन लोगों को दृष्यांत एवं प्रतिवस्तूपमा का अंतर स्पष्ट न होने के कारण 'दृष्यांत' अलङ्कार का भी पृथक् से कोई निर्देश नहीं किया गया। उद्भट ही एकमात्र आचार्य हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम 'प्रतिवस्तूपमा' को एक पृथक् अलङ्कार के रूप में परिभाषित किया। परवर्ती आचार्यों ने उद्भट की इस धारणा का स्वागत किया। टीकाकारों ने तो उद्भट की स्थापना को ही विशद रूप में वर्णन किया है।

द्वितीय वर्ग

आक्षेप

जब कथ्यमान के निषेध से अभिव्यक्ति और अधिक संवेगी हो जाये तब

---

1. उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यास: प्रतिवस्तु। का० स्०वृ०, 4, 3, 2
2. समानं वस्तु वाक्यार्थ:।...अत्र द्वौ वाक्यार्थो, एको वाक्यार्थ उपमायामिति भेद:। का०सू०वृ०, वृत्ति
3. प्रतिवस्तूपमा तु सा ।। का० प्र०, 10/101
   सामान्यस्य दिरेकस्य यत्र वाक्यद्वयेस्थिति:।
   साधारणोधर्म: उपमेयवाक्ये उपमान वाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा।। वही

आक्षेप नामक अलङ्कार होता है।[1] विशिष्ट अर्थ की अभिधित्सा इस सौन्दर्यविधा का प्राण है-कुछ न कहकर बहुत कुछ कह देना। वक्तव्य को यहाँ इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिससे ऐसा लगे मानो उसका प्रतिषेध कर दिया गया हो पुनरपि वह भावना अवश्य और अधिक गहरे तक जाकर श्रोता के हृदय में संक्रान्त हो जाती है। अतएव लक्षणवाक्य में 'इव' पद का प्रयोग किया गया है। इसके दो प्रकार हैं-वक्ष्यमाण और उक्तविषय। वक्ष्यमाणविषय नामक आक्षेप वहाँ होता है जहाँ जो कुछ भी कहा जाने वाला है उसे बीच में ही छोड़कर उसका प्रतिषेध कर दिया जाता है। विधेय का निषेध सा होने के कारण ही इसकी संज्ञा वक्ष्यमाण विषय है।[2] उक्त विषय नाम आक्षेप वहाँ होता है जहाँ जो कुछ कहा जा चुका है उसी का प्रतिषेध कर दिया जाये। आचार्य दण्डी ने इसके लक्षण में प्रतिषेधोक्ति को विशेष महत्त्व दिया है तथा इसके प्रकारान्तर से तीन भेद बताए हैं-वृत्ताक्षेप, वर्त्तमानक्षेप तथा भविष्यदाक्षेप। इसके साथ ही उन्होंने इसके इक्कीस उपभेदों की भी चर्चा की है।

उद्भट ने भामह के ही लक्षण को अक्षरशः ग्रहण किया।[3] दो प्रकार के आक्षेप विधेय को आपाततः प्रतीति तथा निषेध के कारण होते हैं।[4] इंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि विधेयता दो प्रकार की होती है-शाब्दी तथा आर्थी।[5] जब वाचक शब्द के व्यापार की अपेक्षा न कर शब्दान्तर के व्यापार की अपेक्षा से निषेध द्वारा इच्छित विधेय के द्वारा अर्थ प्रतीत होता है तो आर्थी विधेयता होती है और वहाँ वक्ष्यमाणविषय आक्षेप होता है।[6] जहाँ अभीष्ट अर्थ का कथन स्पष्ट रूप से होता है वहाँ शाब्दी विधेयता होती है और ऐसी स्थिति में उक्तविषय नामक आक्षेप होता है।[7]

---

1. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
   आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति।। का० अ०, 2/68
2. विधेयस्य विधातुं ज्ञापयितुमभिमतस्य यो निषेध इव तेनायं वक्ष्यमाणोक्तविषय आक्षेपो निबध्यते। का०सा०सं०, 2/3 पर ल० वृ०
3. प्रतिषेध-इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया वही, 2/2
4. निषेधेनैव तद्बन्धो विधेयस्य च कीर्तितः। वही, 2/3
5. विधानकर्मता च विधानात्मिकाया उक्तेः कर्मता। सा च द्विविधा आर्थी शाब्दी च। वही, 2/3 पर ल० वृ०
6. यत्र स्वशब्दव्यापार मन्तरेणाऽपि शब्दान्तरव्यापारसहायनिषेधमुखेनैव विधित्सितोर्थोवगम्यते तत्रार्थी। तत्र च वक्ष्यमाणविषय आक्षेपः। वही
7. यत्र तु विधिमुखेनैव वक्तु मिष्टस्यार्थस्योपादानं क्रियते तत्र शाब्दी। तत्र चोक्तविषयता आक्षेपस्य। वही

जब स्मर की अनुकम्पा पर ध्यान जाता है तब यह जानकर आश्चर्य होता है कि उसने रुद्र की भी यह दशा कर दी? अथवा इस कथन को यहीं विराम देते हैं। भला समुद्र के जल को घट से मापने में कहीं हमलोग समर्थ हो सकते हैं। इस उदाहरण में घट के द्वारा समुद्र में जल के मान की जो असामर्थ्य प्रदर्शित की गई है। इसी आधार पर इस वाक्य का पर्यवसान इस अर्थ में है कि मन्मथ की शक्ति का बुद्धि द्वारा मान शक्य नहीं है। इसलिए इच्छित अर्थ प्रतिषेध के ब्याज से सहृदय की बुद्धि का विषय बनता है। इस अनुक्त अर्थ के आक्षेप के कारण इसे आक्षेप कहते हैं। उदाहरण में स्मर की महिमा की बात कही गयी है कि जिसके कारण रुद्र की यह दशा हुई इन शब्दों की सामर्थ्य से इतना ही रहने दो, अतिरिक्त कौन कहे इस कथन से प्रतीत 'प्रतिषेध' से ही वक्ता यह स्पष्ट करने की कोशिश कर रहा है कि शब्दोपात्त मन्मथ की महिमा अनन्त है। इसके कारण सूचित माहात्म्य के वर्णन का निषेध सूचित करता है कि वह इतना अन्तहीन है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः यहाँ वक्ष्यमाणविषय है।

आश्चर्य है कि इस प्रकार सोचते हुए उसकी चिन्ता की कोई बात नहीं दिखाई पड़ी ठीक ही है, भला कार्यविषयी विकल्पों और काल का कभी अन्त देखा जा सका है।[1] इस उदाहरण में प्रसिद्धि का समर्थन के लिए काल को उपमान रूप में प्रयुक्त किया गया है। जिस प्रकार समय का अन्त नहीं है उसी प्रकार काम विकल्पों का भी अन्त नहीं है। इसलिए इस विषय में आश्चर्य नहीं करना चाहिए। काल से समानता प्रकट करने के कारण काम संबंधी विकल्पों का आनन्त्य अज्ञेय है, यह कथन यहाँ वक्ता को विवक्षित है। इस तरह से यहाँ आक्षेप का विषय उक्त होने से उक्त विषय आक्षेप हुआ। वामन के लक्षण पर दण्डी का प्रभाव अधिक है। उसमे औपम्यमूलकता की बात को जोड़कर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि उपमान का आक्षेप ही आक्षेप नामक अलङ्कार है।[2] उन्होंने इसके दो प्रकार भी बताये तुल्यकार्यार्थ की निरर्थकता का कथन[3] तथा उपमान का आक्षेप के द्वारा ज्ञान।[4] रुद्रट का कथन है कि जब वक्ता किसी प्रसिद्ध अथवा विरुद्ध वस्तु को कहकर इस

---

1. इति चिन्तयस्तस्य चित्रं चिन्तावधिर्न यत्।
   क्व वा कामविकल्पानामन्तः कालस्य चेक्षितः। वही, 2/5
2. उपमानोक्षेपश्चाक्षेपः। का०सू०वृ०, 4, 3, 27
3. उपमानस्य क्षेपः प्रतिषेध उपमानाक्षेपः।
   तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थ्यविवक्षायाम्। वही, वृत्ति।
4. उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः। वही

वचन का प्रतिषेध करते हुए उसके समर्थन में किसी दूसरी वस्तु का कथन करता है।[1] तो आक्षेप अलङ्कार होता है।

मम्मट पर भामह का प्रभाव है। कथन की विशेषता के प्रतिपादन के लिए उसका निषेध सा किया जाय तो आक्षेप होता है।[2] रुय्यक ने इसी बात को और अधिक विशदता से प्रकट किया। उनके अनुसार प्रकरण प्राप्त अर्थ की विशेषता के प्रतिपादन के लिए उक्त अथवा वक्ष्यमाण अर्थ के निषेधाभास को आक्षेप कहा है।[3] जयदेव के लक्षण में भी पूर्वाचार्यों के समान ही प्रतिषेध तत्त्व की प्रधानता है परन्तु उन्होंने एक नवीन भेद 'गुढ़ाक्षेप' के विषय में भी चर्चा की है कि जिसमें विधि की स्पष्टता रहे किन्तु निषेध स्पष्ट नहीं है।[4] पंडितराज जगन्नाथ ने निषेधाभासात्मक को आक्षेप कहा है।[5] अस्तु।

भामह ने विशेषाभिधित्सा तथा प्रतिषेधाभास को आक्षेप अलङ्कार के मूल में स्वीकार किया था जिसे उद्भट ने अक्षरशः ग्रहण कर लिया। अन्य आचार्य इन्हीं दो विशेषताओं के आलोक में इस अलङ्कार का स्वरूप निर्धारित करते रहे। दण्डी आदि ने प्रतिषेधाभासता को अधिक महत्त्व दिया जिसे अन्ततः पण्डितराज ने भी स्वीकृति प्रदान की। वामन आदि ने जो उपमानोपमेयभाव के साथ इसे जोड़ने का प्रयास किया, वह उत्तरवर्ती परम्परा में ग्राह्य नहीं हो सका। मम्मट व रुय्यक आदि पर भी भामह व उद्भट का प्रभाव स्पष्ट है। उद्भट के टीकाकारों का इस सम्बन्ध में योगदान यही है कि उन्होंने मूल आचार्यों की भावना को सुतरां स्पष्ट किया है। इस दृष्टि से लघुवृत्तिकार का प्रयास अधिक श्लाघनीय है।

अर्थान्तरन्यास

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया था। इनका कथन है कि कथित अर्थ के अतिरिक्त परन्तु उसी से अनुगत दूसरे अर्थ का जहाँ न्यास होता हो

1. वस्तु प्रसिद्धमिति यदविरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत् तथात्वसिद्धये यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः। का० अ० (रू) 8/89
2. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधामतः। का० प्र० 10/106
3. उक्त वक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतीत्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः। अ०स०, भारतीय विद्या प्रकाशन, पृ० 114
4. आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते। कु०आ०, पृ० 75
5. उपमेयस्य उपमानसम्बन्धि सकलप्रयोजननिष्पादनसमत्वाद् उपमानकैमर्थ्यम् उपमानाधिक्षेप-रूपरूपम् आक्षेपः। र०गं०, पृ० 562

वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है।[1] दण्डी पर भामह का प्रभाव है परन्तु इन्होंने इसे थोड़ा सा अन्तर लाकर स्पष्ट किया है। किसी भी कथित अर्थ का उपन्यास कर उस प्रस्तुत अर्थ के लिए अप्रस्तुत कथन के द्वारा समर्थन ही अर्थान्तरन्यास है।[2] रुय्यक ने कार्यकारणभाव की चर्चा की[3] और इन्हीं आधारों पर अलङ्कार का भेदविभाग किया गया।[4] आचार्य भामह की बात को आगे बढ़ाते हुए उद्भट ने अर्थान्तरन्यास में अर्थान्तर के विन्यास के द्वारा ही प्रकृत अर्थ के समर्थन की बात की है। यहाँ हेतुवाचक पदों का प्रयोग हो भी सकता है, और नहीं भी।[5] इन्दुराज ने यहाँ समर्थ्य समर्थकभाव पर अधिक बल दिया है।[6] वह समर्थक वाक्य व्याप्ति और पक्षधर्मता को अपने गर्भ में समाहित करके रखता है।[7]

इस प्रकार अर्थान्तरन्यास के चार प्रकार हैं-समर्थक की पूर्व स्थिति और समर्थ्य बाद में वहाँ दो भेद होते हैं। उसमें भी 'हि' शब्द के द्वारा जहाँ समर्थ्य समर्थक भाव कथित हो वह एक प्रकार है। तथा चतुर्थ प्रकार में 'हि' पद का प्रयोग नहीं होता। यथा-ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे संसार नहीं करता, क्योंकि उसमें स्वार्थ है-अगतिक गति है। क्योंकि शंकर को भी वटुवेष धारण करके अपना कार्य सिद्ध करना पड़ा था।[8] इस उदाहरण में अत्यन्त कार्यव्यग्र होने के कारण शंकर ने अनुचित रूप को भी अपनाया जैसा कि साधारण पुरुष भी और कोई उपाय न रहने पर किया करते हैं। इस तरह से यहाँ 'हि' शब्द के द्वारा समर्थ्य-समर्थक भाव की अभिव्यक्ति की गई है।

---

1. उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदिताद्दृते।
   ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा।। का अ०, 2/71
2. ज्ञेयः सो अर्थान्तरन्यासः वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन।
   तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः। का० आ०, 2/169
3. सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः। अ० स०, पृ० 139
4. सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
   कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
   साधर्म्येणेतरणार्थान्तरन्यासोष्टधा ततः। सा० द०, 10/62
5. समर्थकस्य पूर्व यदवचोऽन्यस्य च पृष्ठतः।
   विपर्ययेण वा यत्स्यात् हि शब्दोक्त्याऽन्यथाऽपि वा ज्ञेयः
   सोऽर्थान्तरन्यासः। का०सा०सं०, 2/6
6. यत्र समर्थ्य समर्थकभावः सोऽर्थान्तरन्यासः। वही, 2/6 पर ल० वृ०
7. तत्र हि...गर्भीकृतत्वात्। वही, 2/6 पर ल० वृ०
8. तन्नास्ति यत्र कुरुते लोको ह्यत्यन्तकार्यिकः।
   एष शर्वोऽपि भगवान् बटूभूय स्म वर्तते।। वही, 2/8

जब 'हि' शब्द का साक्षात् प्रयोग न होने पर भी उसका भाव अर्थगत सामर्थ्य से प्रतीत हो, वह अर्थान्तरन्यास का दूसरा भेद होता है। अर्थात् 'हि' शब्द की उक्ति के बिना भी कहीं कहीं अर्थतः समर्थ्य-समर्थक भाव होता है। यथा-प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः[1] आदि पद्य में 'हि' के स्थान पर 'अतः' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार 'हि' शब्द का कहीं 'शब्दतः' तथा कहीं अर्थतः उपादान होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ समर्थ्य का पहले तथा समर्थन का बाद में कथन किया जाय वहाँ भी इसी प्रकार के दो भेद निष्पन्न होते हैं। इन दोनों भेदों के उदाहरण क्रमशः हरोऽथ ध्यानम[2] तथा अपश्यच्चाति शब्द कष्यनि[3] इत्यादि हैं।

इस संदर्भ में उद्भट ने यह आशंका उपस्थित की है कि यदि अर्थान्तरन्यास के लिए समर्थ्य-समर्थक वाक्य को ही अनिवार्य माना जाय तो यह लक्षण अप्रस्तुतप्रशंसा और दृष्यंत में भी अतिव्याप्त हो जाएगा क्योंकि समर्थ्य-समर्थक भाव की उपस्थिति वहाँ भी होती है परंतु अर्थान्तरन्यास के प्रकृत अर्थ का समर्थन होता है। इसलिए वह इन दोनों से भिन्न है। लक्षण वाक्य में इसके लिए 'प्रकृतार्थ समर्थनात्' इस हेतु का उपन्यास किया गया है।[4]

राजानक तिलक ने इनका भेद स्पष्ट करते हुए कहा कि अप्रस्तुतप्रशंसा में 'एक' का उपादान नहीं होता है जबकि दृष्यन्त में इनमें दोनों में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है।[5] मम्मट ने इस अलङ्कार को परिभाषित करते हुए कहा है कि जहाँ विशेष एवं सामान्य वस्तुओं द्वारा साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन किया जाय, वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है।[6] काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास में इतना ही अंतर है कि

---

1. प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
 प्रतस्थे घूर्जटिरतस्तनु स्वीकृत्य वाटवीम्। वही, 2/9
2. हरोऽथ ध्यानमातस्थौ संस्थाप्यात्मानमात्मना।
 विसंवदेद्धि प्रत्यक्षं निर्ध्यांत ध्यानतो न तु।। वही, 2/10
3. अपश्यच्चातिकष्यनि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
 असंभाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः। वही, 2/11
4. प्रकृतार्थसमर्थनात्।
 अप्रस्तुतप्रशंसाया दृष्यन्ताच्च पृथक स्थितिः। वही, 2/7 पर ल० वृ०
5. अप्रस्तुतप्रशंसायामेकस्यानुपादानमेव। दृष्टन्ते बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनैव न्यसनहेतुकथनम्। तेन नैतल्लक्षणम्। वि०, पृ० 24
6. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
 यतु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा । का० प्र०, 10/109

काव्यलिंग में कारण से कार्य का समर्थन होता है जबकि अर्थान्तरन्यास में सामान्य से विशेष का समर्थन होता है। रुय्यक ने अर्थान्तरन्यास के लिए सामान्य विशेष को स्वीकारा तथा कार्य कारण द्वारा भी पारस्परिक समर्थन को अर्थान्तरन्यास के लिए स्वीकृति दी।[1] रुय्यक ने उद्भट के 'हि' शब्द के प्रयोग से निष्पन्न होने वाले 'शाब्द' और 'आर्थ' इन दो भेदों का खण्डन किया। इनका कथन है कि इस प्रकार भी भेद गणना सहृदयहृदयाह्लादक नहीं है कयोंकि इसमें कोई चमत्कार नहीं है। परंतु उद्भट के जिस 'हि' शब्द के कथन का रुय्यक ने खंडन किया[2] पंडितराज जगन्नाथ ने उसे स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने रुय्यक की अपेक्षा अर्थान्तरन्यास को ज्यादा स्पष्ट करने की कोशिश की। इनका कथन है कि जो लोग कार्य-कारण वाले स्थल को वाक्यार्थगत काव्यलिंग में मानते हैं, उनका कथन अनुचित है क्योंकि हेतु या कारण तीन प्रकार के होते हैं-ज्ञापक, निष्पादक एवं समर्थक। इनमें से ज्ञापक अनुमान का निष्पादक काव्यलिंग का, तथा समर्थक अर्थान्तरन्यास का विषय है, इसी कारण कार्य-कारण भाव सम्बन्ध रहने पर भी अर्थान्तरन्यास काव्यलिंग से सर्वथा भिन्न है। विश्वनाथ ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेदों का वर्णन किया है।[3] अप्पयदीक्षित ने अर्थान्तरन्यास के दो भेदों को सामान्य रूप से परिभाषित किया है। सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से जहाँ समर्थन होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास की स्थिति होती है।[4]

आचार्य भामह की विवेचन सरणि को उपजीव्य बनाकर आचार्य उद्भट ने अर्थान्तरन्यास के स्वरूप एवं प्रभेद के संदर्भ में जो चिन्तन प्रस्तुत किया वह रुय्यक तथा विश्वनाथ के हाथों द्वारा होता हुआ किसी न किसी रूप में उत्तरवर्ती परम्परा को प्रभावित करता रहा। पंडितराज जगन्नाथ तक भी उसके स्वरूप तथा भेद का विचार किसी न किसी रूप में स्वीकृत होता ही रहा। आचार्य उद्भट की मान्यता को विशद रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय उनके दोनों टीकाकारों को भी जाता है।

---

1. सामान्यविशेषभावकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः। अ०स०, निर्णयसागर संस्करण, पृ० 109
2. हि शब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोपन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणनासहृदयहृदयहारिणी, वैचित्र्यस्याभावात्। वही।
3. सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि।
   कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
   साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः।। सा०द०, 10/62
4. सामान्येन विशेषस्य, विशेषेण सामान्यस्य वा यत्समर्थनं तदर्थान्तरन्यासः। कु०आ०, पृ० 633

व्यतिरेक

भामह की उक्ति व्यतिरेक के विषय में यह है कि जब उपमान की अपेक्षा उपमेय के विशेष गुणों का वर्णन होता है तब इस अलङ्कार की स्थिति होती है।[1] दण्डी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दो पदार्थों के बीच सादृश्य के साक्षात् शब्द के द्वारा उक्त होने पर अथवा प्रतीत मात्र होने पर जो भेद का कथन है वह व्यतिरेक कहा जाता है।[2] इन्होंने श्लेष को व्यतिरेक का आधार माना है।[3]

उद्भट ने इनमें से भामह का अनुकरण किया और कहा कि उपमान एवं उपमेय की बीच विशेष का प्रख्यापन ही व्यतिरेक है। राजानक तिलक ने इस 'विशेष' पद का व्याख्यान करते हुए कहा है कि यह उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के निकर्ष रूप वाला होता है। इन दोनों का ही निमित्त कभी स्पष्ट रहता है और कभी अस्पष्ट। इस निमित्त के दर्शन एवं अदर्शन से उसके दो भेद हो जाते हैं। इंदुराज ने दण्डी के शब्द एवं अर्थ वाले भेदों को लेकर चार भेद किये-विशेषकथनरूप निमित्त का अर्थसामर्थ्यवश आक्षेप होने पर तथा दूसरा जहाँ निमित्त का शब्दतः कथन हो। इन दोनों भेदों के भी प्रत्येक के दो भेद होते हैं, क्योंकि अर्थ के सामर्थ्यवश उपमानोपमेयभाव प्रतीयमान होता है और कहीं इव आदिवाचक शब्दों के द्वारा उपमानोपमेयभाव वाच्य रहता है।

गौरी शिखर पर जाकर तपस्या के कारण कृशकलेवर वाली पार्वती को दूर से ही ऐसे देखती रही जैसे राहु द्वारा पीत प्रभा वाला उत्कृष्ट इन्दु मण्डल।[4] इस उदाहरण में राहु के द्वारा पीत-प्रभा इंदु का मण्डल ही उपमान है। तपःकृशा पार्वती उपमेय है। दोनों का साधारण धर्म है स्वभाविक सौंदर्य के रहते हुए भी निमित्तवशात् कांतिरहित्य। इस तरह यहाँ अनुपात्त निमित्त व्यतिरेक का पहला भेद हुआ। शिव ने रात्रि में हीन पद्म तथा दिन में शोभारहित चंद्र को अपने शाश्वत कांतिमय मुख के द्वारा तिरस्कृत

---

1. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा। का० अ०, 2/75
2. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुतोद्वयोः।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते।। का० आ०, 2/180
3. स एष श्लेषरूपत्वात्सश्लेष इति गृह्यताम्। वही, 2/186
4. सा गौरी-शिखरं गत्वा ददर्शोमां तपः कृशाम्।
राहुपीतप्रभस्येन्दोर्जयन्तीं दूरतस्तनुम्। का० सा० सं०, 2/13

करती हुई (पार्वती को देखा)[1] इस उदाहरण में मुख उपमेय है। पद्म और इंदु उपमान है। यहाँ वे दोनों शब्दतः कहे गये हैं तथा इवादि का प्रयोग नहीं किया गया है। विशेषोपादान का सम्बन्ध होने के कारण व्यतिरेक वहाँ भी हो सकता है। जहाँ यथा, इव आदि शब्दों से समन्वित भिन्न धर्म द्वारा दृष्यान्त प्रस्तुत किया गया हो।[2]

व्यतिरेक के लिए भिन्न धर्म से दृष्यान्त का प्रयोग तथा विशेषता का प्रदर्शन ये दोनों विशेषताएँ व्यतिरेक के लिए प्रभावपूर्ण है। यथा–शीर्णपत्र, जल एवं वायु के भक्षणजनित कष्ट के बावजूद तपस्या में लगी हुई दूसरे तपस्वियों की तरह अपूर्व गर्व नहीं करती हुई (पार्वती को देखा)[3]। इस उदाहरण में दूसरे तपस्वी उपमान हैं, पार्वती उपमेय है, साधारण धर्म कष्टकर तपस्या में स्थित होने के कारण चित्तगत उल्लास। अन्यान्य तपस्वी तप करते हैं तो गर्व धारण करते हैं परंतु यहाँ पार्वती अत्यन्त शांत है, उसमे गर्व नहीं है। इस तरह से यहाँ गर्वापक्रम की अवस्था की दृष्टि से उपमान के द्वारा संवहन नहीं होने के कारण उपमान से उपमेय की विशेषता के कारण व्यतिरेक है।

शिलष्टोक्तियोग्य शब्द के पृथक्-पृथक् प्रयोग द्वारा जहाँ विशेषोपादन किया जाय तो वहाँ व्यतिरेक का एक रूप होता है।[4] जब एक ही आकार के शब्द को, जो भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हों उसके लिए दो बार उच्चारण करना होगा। यथा–तपस् (माघ) से एक मास के लिए ही भूलोक विश्रुत शैशिरी श्री के अपने सुदीर्घ तपस् से दूर से ही तिरस्कृत करती हुई (पार्वती)। अर्थात् शिशिर की शोभा ने तो एक हीं तपस् (माघमास) से भूतल में विश्रुति प्राप्त की पर पार्वती दीर्घ तपस् से भूतल में प्रसिद्ध हुई।[5] इस उदाहरण में शिशिर की शोभा उपमान है। पार्वती उपमेय है। दोनों का साधारण धर्म है तपोयोग। एक स्थान पर तपस् का अर्थ माघमास और दूसरे

1. पद्मम च निशि निःश्रीकं दिवा चन्द्रं च निष्प्रभम्।
स्फुरच्छायेन सततं मुखेनाधः प्रकुर्वतीम्। वही, 2/14
2. इवाद्युपात्ते तूपमानोपमेयभावे यो व्यतिरेकस्तमाह।
यो वैधर्म्येण दृष्यान्तो यथेवादिसमन्वितः।
व्यतिरेकोऽत्र सोऽपीष्टो विशेषापादनान्वयात्। वही, 2/15
3. शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम्।
समुदवहन्तीं नापूर्व गर्वमन्यतपस्विवत्। वही, 2/16
4. शिलष्टोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक्पृथगुदाहतौ।
विशेषापादनं यत्स्याद् व्यतिरेकः स च स्मृतः। वही, 2/17
5. या शैशिरी श्रीस्तपसा मासेनैकेन विश्रुताः।
तपसा तां सुदीर्घेण दूराद्विदधतीमधः। वही, 2/18

स्थान पर अभ्युदय का उपाय कष्टमय आचरण। इवादि उपात्त नहीं है। दूर से ही तिरस्कृत करती हुई–व्यतिरेक घोषित करता है। जबकि 'वति' इत्यादि प्रत्यय से उपमानोपमेयभाव उपात्त नहीं है, फिर भी निमित्त के द्वारा 'व्यतिरेक' की स्पष्टता हो जाती है। इस उदाहरण में 'तपस्' शब्द दो बार आया है। प्रथम में माघमास का पर्याय है तथा दूसरे में तप का।

वामन ने आचार्य भामह के ही लक्षण को उद्धृत किया है। इन्होंने किसी अज्ञात आचार्य के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि यह चमत्कार शब्दोपात्त अथवा गम्यमान भी हो सकता है।[1] भामह और वामन तक व्यतिरेक का सौन्दर्य केवल उपमेय के विशेष निदर्शन तक सीमित था। रुद्रट[2] तथा रुय्यक[3] इसे उपमानाधिक्यवर्णन के रूप में भी देखा। आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक के सबसे ज्यादा भेद किए–दोनों हेतुओं का उक्त होना। दोनों हेतुओं का अनुक्त होना। उपमेय के उत्कर्ष हेतु का अनुक्त तथा उपमान के अपकर्ष हेतु का उक्त होना। इनका कथन है कि इन भेदों में से प्रत्येक भेद उपमानोपमेय भाव या तो शब्दोपात्त होगा या अर्थ द्वारा निवेदित होगा, अथवा केवल आक्षिप्त होगा, इस प्रकार तीन–तीन उपभेद हो सकते हैं। ये बारह भेद अश्लिष्ट होते हैं। इस प्रकार व्यतिरेक के चौबीस भेद हो गये। मम्मट ने उपमान से उपमेय के आधिक्य को व्यतिरेक कहा है।[4] इन्होंने रुद्रट के मत का खण्डन करते हुए कहा कि उपमान से उपमेय का आधिक्य वर्णन है उसमें उपमेय के आधिक्य के हेतु तथा उपमान के अपकर्ष के हेतु इन दोनों का वर्णन होने पर व्यतिरेक का प्रथम भेद होता है।[5] जयदेव का कथन है कि उपमान और उपमेय में परस्पर वैलक्षण्य का निरूपण ही व्यतिरेक है।[6] पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि जब किसी विशेष प्रकार के गुण से युक्त होने पर उपमान से उपमेय का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाय तो 'व्यतिरेक' होता है।[7] विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुकरण किया है। अस्तु।

---

1. कश्चित्तु गम्यमानगुणो व्यतिरेकः। का० सू० वृ०, 4/3/22 पर वृत्ति।
2. यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने। का०अ० (रू), 7/86
   यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये। वही, 7/89
3. भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः। अ० स०, सूत्र 28
4. उपमानाद् यदन्यस्त व्यतिरेकः स एव सः। का० प्र०, 10/158
5. इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं, तद्युक्तम् अत्र यौवनगतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम्। वही, पृ० 491
6. व्यतिरेको विशेषश्चेद उपमानोपमेययोः। च० आ०, 5/59
7. उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः। र०गं०, पृ० 466

भामह ने व्यतिरेक के लिए उपमेयोत्कर्ष को महत्त्वपूर्ण माना जबकि दण्डी उपमेय और उपमान के मध्य भेदकथन पर बल देते हैं। उद्भट ने इन दोनों के वैशिष्ट्य स्थापन पर बल दिया। दोनों ही टीकाकारों इंदुराज तथा राजानक तिलक ने इनके 'विशेषापादन' पद की जिस प्रकार से व्याख्या की उससे, ये भामह के ही अधिक निकट प्रतीत होते हैं। विशेष रूप तिलक उपमेय के उत्कर्ष तथा उपमान के अपकर्ष की बात करते हैं। रुद्रट ने उपमेय तथा उपमान दोनों के आधिक्य वर्णन को महत्त्वपूर्ण माना है, जिसका समर्थन रुय्यक तथा विश्वनाथ जैसे आचार्यों ने भी किया परन्तु चिन्तन की जो दिशा भामह, उद्भट तथा उनके टीकाकारों ने तय कर दी थी, सभी आचार्य उसी पर चलते रहे। कहा जा सकता है कि रुद्रट द्वारा प्रस्तावित संशोधन के साथ इन पूर्वाचार्यों का मत स्वीकार कर लिया गया।

विभावना

भामह विभावना को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्रिया के प्रतिषेध में फल की उत्पत्ति ही विभावना अलङ्कार होता है साथ ही फलोत्पत्ति का समाधान दुर्लभ नहीं होना चाहिए[1] परन्तु वह उक्त अथवा अनुक्त हो सकता है। और इसी आधार पर बाद में इसके भेद भी किए गए। दण्डी इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि प्रसिद्ध हेतु की व्यावृत्ति (अभाव-प्रदर्शन) में कारण के बाद की कल्पना अथवा स्वभाविकत्व[2] की कारण-कल्पना ही विभावना है।[3]

आचार्य उद्भट ने भामह का अनुकरण किया है। उद्भट भामह, वामन तथा मम्मट ने इसके लक्षण में हेतु के लिए 'क्रिया' शब्द का प्रयोग किया है। टीकाकार इंदुराज का कथन है कि जिस किसी भी चीज की उत्पत्ति होती है वह सभी क्रिया का ही फल है। समग्र फल का क्रिया ही एकमात्र कारण है। इस प्रकार जब क्रिया का प्रतिषेध किया जाता है और फल की उत्पत्ति होती हो तब इस अलङ्कार की स्थिति होती है।[4] कारण के नहीं होने पर भी कार्य हो जाता है इसलिए यह विरुद्धाभासा

1. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
   ज्ञेया विभावनेवासौ समाधौ सुलभे सति।। का०अ०, 2/77
2. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किंचित् कारणान्तरम।
   यत्र स्वभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना। का०आ०, 2/199
3. विभावना का यही लक्षण 'अग्निपुराण' में दण्डी की शब्दावली से अपना लिया गया है।
4. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
   ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति।। का० सा० सं०, 2/19

भावना या उत्पादना प्रतीत होता है। इस प्रकार यहाँ यह संदेह भी होता है कि कहीं व्यर्थत्व दोष न आपातित हो जाये अर्थात् जब कथन विरुद्ध प्रतीत हो। इसके परिहार के लिए सामाधौ सुलभे सति-रति कहा है। आशय यह है कि जहाँ इस आपातत: प्रतीत विरोध का परिहार सुलभ हो वहाँ इस अलङ्कार की स्थिति होती है। यथा-कुंकुम स्पर्श के बिना ही पीताभ अंग रेखा वाली, तथा अलक्तक के बिना ही ताम्राभ ओष्ठ मुद्रा धारण करती हुई (पार्वती को देखा)[1]। अर्थात् शरीर की जो पीतप्रभा है वह नायिकाओं में कुंकुम के द्वारा ही की जाती है, परंतु पार्वती के शरीर में यह कार्य कुंकुम से नहीं किया गया था और कुंकुम का प्रयोग नहीं होने पर भी पीत प्रभा रूप फल की उत्पत्ति है। इस विरोध का परिहार यह है कि पार्वती के गात्र में पीलापन स्वभाविक है। इस प्रकार यहाँ विभावना है। इस उदाहरण में कुंकुमादि संपाद्य पीलापन इत्यादि उपमान और स्वाभाविक पीलापन इत्यादि उपमेय है। इसी उपमानोपमेयभाव को लेकर आचार्य वामन इसे उपमाप्रपञ्च में समाहित कर पाये। उनके अनुसार क्रिया का निषेध होने पर भी उसके फल की उत्पत्ति को विभावना कहते हैं।[2] इनके इस लक्षण में भामह की बात स्पष्ट रूप से नहीं आ पायी परन्तु उदाहरण[3] में इसे ध्यान में रखा गया है। इन्होंने 'क्रिया प्रतिषेधे' पर भामह से और 'प्रसिद्ध' दण्डी से उधार लिया है। दण्डी ने जिस स्थान पर 'प्रसिद्ध' विशेषण का प्रयोग 'कारण' के साथ किया था उस स्थान पर वामन ने उसे कार्य के साथ जोड़ दिया। रुद्रट ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस कारण से पदार्थ होता है उससे भिन्न कारण से उसका कथन होता है।[4] इन्होंने इसके तीन भेद बताए

1. जिस कारण से पदार्थ होता है उससे भिन्न कारण से उसका कथन होता है।
2. किसी वस्तु का विकार कारण के बिना उपस्थित हो।[5]
3. जिस अर्थ का जैसा धर्म लोक में प्रसिद्ध है वैसा ही धर्म किसी अन्य अर्थ का वर्णित करना[6]।

---

1. अङ्ग लेखामकाश्मीरसमालम्भनपिञ्जराम्।
अनलक्तकताम्राभामोष्ठमुद्रां च विभ्रतीम्।। वही, 2/20
2. क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना।। का० सू० वृ०, 4/3/13
3. अप्यसज्जनसाङ्गतये न वसत्येव वैकृतम्।
अक्षालितविशुद्धेषु हृदयेषु मनीषिणाम्।। वही, वृत्ति
4. अभिधीयते यत:स्यात् तत्कारणम् अन्तरेणैव। का०अ० (रू), 9/16
5. यस्यां तथा विकारस्तत्कारणमन्तरेण सुव्यक्त:। वही, 9/18
6. यस्य यथात्वं लोके प्रसिद्धम् अन्यस्यापि तथात्वम्। वही, 9/20

इन्होंने इन तीन भेदों में पहला भेद दण्डी से लिया है। दूसरा भेद भामह तथा वामन से लिया है। तथा तीसरा भेद नवीनता लिए हुए है। मम्मट ने कोई नयी बात नहीं कही। रुय्यक ने 'क्रिया' और 'कारण' में से 'कारण' को लक्षण में प्रयोग किया है। कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति विभावना है।[1] वृत्ति में स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसमें अप्रस्तुत कारण विद्यमान रहता है जो चमत्कार का आधार है।[2] इन्होंने विशेषोक्ति की तरह विभावना के दो प्रकार बताए, उक्त निमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता।[3] विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुकरण किया है। अप्पयदीक्षित ने इसके छह भेद बताए-

(1) प्रसिद्ध कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति।
(2) अपर्याप्त कारण से भी कार्य की उत्पत्ति।
(3) प्रतिबंधक के होने पर भी कार्य की उत्पत्ति होना।
(4) अकारण से भी कार्य की उत्पत्ति।
(5) विरुद्धकारण से कार्य की उत्पत्ति।
(6) कार्य से ही कारण की उत्पत्ति।

पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षितजी के मत का खंडन करते हुए कहा कि जिस प्रकार से उपमा एवं रूपक के पूरे प्रभेदों में स्थित रहने वाला एक सामान्य रूप है, उसी प्रकार से विभावना का कोई ऐसा सामान्य रूप दीक्षितजी ने नहीं कहा जो उनके भेदों में लागू होता है। जगन्नाथ ने रसगंगाधर में कुवलयानन्द का खण्डन करते हुए विभावना का लक्षण दिया।[4] साथ ही उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता दो भेद भी बताये।

विभावना के विषय में भामह ने विरोध की क्षलक देने वाले कार्य पर जोर डाला है, जबकि दण्डी ने कार्य के मूल में निहित स्वभाविक कारण ढूँढ निकालने की कोशिश की है। उद्भट पर भामह का प्रभाव है। परवर्ती आचार्य उद्भट और भामह से प्रभावित हैं। टीकाकार इंदुराज ने विरुद्धाभासा भावना उत्पादना को विभावना बताया साथ ही साथ कार्य के मूल में विद्यमान कारण को निकालने को विभावना के लिए आवश्यक बताया है। रुय्यक ने विभावना के लक्षण में 'क्रिया' और 'फल' पदों का प्रयोग किया है। दीक्षितजी ने इसके छह भेदों का वर्णन किया जिनका खंडन पण्डितराज जगन्नाथ ने किया। जगन्नाथजी ने कुवलयानन्द का भी खंडन किया।

1. कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना। अ०स०, पृ० 157
2. अप्रस्तुतं कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहारः। वही, पृ० 158
3. इयं च विशेषोक्तिवद् उक्तानुक्तनिमित्तभेदाद् द्विधैव। वही, पृ० 159
4. कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्ति विभावना। र०गं०, पृ० 582

समासोक्ति

किसी एक वस्तु के कथन से उसी के समान विशेषणों से युक्त दूसरे पदार्थ की व्यञ्जना को समासोक्ति कहते हैं।[1] विश्वनाथ ने इसमें विशेषण साम्य में कार्य और लिङ्ग की समानता को भी जोड़ दिया।[2] दण्डी ने कहा कि किसी भी प्रस्तुत या अप्रस्तुत कथन को ध्यान में रखकर उसी के समान यदि अन्य कथन किया जाय और उसी के द्वारा अपने मन के अभिप्राय को प्रकाशित किया जाय तो ऐसे कथन को समासोक्ति कहते हैं।[3] दण्डी ने इसके प्रथम दो भेद बताये-तुल्याकार विशेषणा और भिन्नाभिन्न विशेषणा। एक नवीन भेद अपूर्व समासोक्ति भी बताया।

उद्भट ने भामह के लक्षण का अनुकरण किया है। जब प्रस्तुत अर्थ वाले वाक्य से समान विशेषण द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का भी कथन हो जाय तो समासोक्ति होता है।[4] इंदुराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब प्रस्तुत अर्थ वाले वाक्य का उसी के समान विशेषणों द्वारा सादृश्यवश उपमान के रूप में अप्रस्तुत अर्थ का कथन हो तो इस अलङ्कार की स्थिति होती है। राजानक तिलक ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि ऐसे स्थलों में श्लेष की संभावना नहीं करनी चाहिए क्योंकि इसमें विशेष्य तथा विशेषण पद अलग-अलग होते हैं। इनमें से विशेष्य पद प्रस्तुत अर्थ का तथा विशेषण पद अप्रस्तुत अर्थ का अभिधान करता है। यथा-प्रकृत अर्थ-पुष्परूपी दाँतों की कांति से युक्त पल्लवरूपी हस्त से शोभायमान भ्रमरावली रूप काली जटा वाली कृश कलेवर जलस्थित (पार्वती को देखा)[5] अप्रकृत अर्थ-सुमन ही जिसकी दाँतों की प्रभा है, पल्लव ही जिसके हाथ हैं, व्याप्त भ्रमरावली ही जिसकी जटा है वह पतली वन की लता। प्रस्तुत उदाहरण में भगवती की दाँतों की प्रभा, हाथ और जटा

---

1. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः।
   सा समासोक्तिरुद्दिष्य संक्षिप्तार्थतया यथा।। का० अ०, 2/79
2. समासोक्तिः समैर्थत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
   व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः। सा० द०, 10/56
3. वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
   उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते। का० अ०, 2/205
4. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
   अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता।। का०सा०सं०, 2/21
5. दन्तप्रभासुमनसं पाणिपल्लवशोभिनीम्।
   तन्वीं वनगतां लीनजटाषट्चरणावलिम्।। वही, 2/22

से विशेषण हैं-ये क्रमशः लतागत सुमन, पल्लव एवं भ्रमर रूप से लता के संदर्भ में एकता के रूप में है। तनुता पार्वती एवं लता का साधारण धर्म है। वन शब्द में श्लेष है, इसमें रूपक की क्षलक भी है। दो अर्थ श्लेष से प्राप्त होते हैं–पार्वती की तपस्या का आधारभूत जल तथा लता का आधार कानन। फिर जल कानन से शोभित भी है-जल पर कानन का आरोप भी है। इन विशेषणों से उपमेयभूत प्रस्तुत भगवती (प्रकृत अर्थ) से लता का उपमान रूप में आक्षेप होता है। इसलिए यहाँ समासोक्ति है।

वामन पर भामह का प्रभाव है। इनका कथन है कि उपमेय के अनुक्त रहने पर उसी के समान वस्तु (उपमान) का विन्यास समासोक्ति है।[1] इन्होंने उपमाप्रपञ्च में इसे समाहित किया है तथा भामह के प्रभाव से यह कहा है कि संक्षिप्तता के कारण यह संज्ञा अन्वर्थिका है।[2] संक्षेप का अभिप्राय उपमेय के अनुक्त रहने से ही है। रुद्रट 'उपमेय' को गम्य और उपमान को एकमात्र सविशेषण अभिधीयमान मानते हैं। इन्होंने भामह की एक समान विशेषण वाली बात पर अधिक जोर दिया।[3]

मम्मट ने कोई नयी बात नहीं कही। इन पर उद्भट का प्रभाव है। रुय्यक पर भी उद्भट का प्रभाव है। हाँ, इसका भेदविभाग अवश्य उन्होंने नये ढंग से किया। इसके तीन भेद हैं-(1) शिलष्ट विशेषणमूलक, साधारण विशेषणमूलक, औपम्यगर्भित। फिर इन्होंने साधारण विशेषणमूलक के दो भेद किए-धर्मसमारोप तथा कार्यसमारोप। पुनः औपम्यगर्भित विशेषणोत्थापित समासोक्ति अर्थान्तरन्यास के माध्यम से कभी समर्थ्यगत और कभी समर्थकगत भी होती है। समासोक्ति का प्राण व्यवहारसमारोप है, रूपसमारोप[4] नहीं। व्यवहार के अनेक रूपों के आधार से समासोक्ति के अनेक

---

1. अनुक्तौ समासोक्तिः। का०सू०वृ०, 4/3/3
2. (क).....संक्षिप्तार्थतया यथा। का०अ०, 2/79
   (ख) संक्षेपवचनात्समासोक्तिरित्याख्याता। का० सू० वृ०, 4/3/3 वृत्ति
3. सकलसमानविशेषणमेकं पत्राभिधीयमानं सत्।
   उपमानमेव गमयेद् उपमेयं सा समासोक्तिः।। का० अ० (रू), 8/67
4. इह प्रस्तुताप्रस्तुनां क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद्गम्यत्वम्।.....
   गम्यत्वं तु प्रस्तुतनिष्ठम् अप्रस्तुतप्रशंसाविषयः, अप्रस्तुतनिष्ठं तु समासोक्तिविषयः।
   तत्र च निमित्तं विशेषणसाम्यम्। अवच्छेदकत्वं च व्यवहारसमारोपो न तु रूपसमारोपः। अ०स०, वृत्ति, 108-9

रूप हैं। जयदेव[1] तथा विश्वनाथ[2] के लक्षण भी इसी परम्परा में हैं। हाँ, विश्वनाथ का भेदविभाग अवश्य कुछ नयापन लिए हुए है। अस्तु।

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। उद्भट ने उसी बात को आगे बढ़ाया। इसके बाद की परम्परा में इसके स्वरूप को लेकर बहुत अधिक मतभेद नहीं रहे। सिवाय इसके कि समान विशेषणों की बात कार्य और लिङ्ग की समानता को विश्वनाथ ने और जोड़ दिया। हाँ, भेदविभाग लेकर रुय्यक और विश्वनाथ ने कुछ सार्थक प्रयास अवश्य किए हैं। कुल मिलाकर इसका वही स्वरूप अन्त तक मान्य रहा जिसकी स्थापना पूर्वाचार्यों के द्वारा कर दी गयी गयी थी। उद्भट एक बार फिर उत्तमर्ण सिद्ध होते हैं।

अतिशयोक्ति

जब कोई वक्तव्य कारण के साथ 'लोकातिक्रान्तगोचर'[3] रूप में वर्णित किया जाय, तो इस तरह के सौन्दर्य के विधान को अतिशयोक्ति कहते हैं। इसमें सौन्दर्य का आधार गुणातिशययोग[4] है। भामह का कथन है कि इस अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति भी कह सकते हैं क्योंकि इसका प्रयोग करने पर अर्थ में सौन्दर्य आता है।[5] दण्डी का कथन है कि अतिशयोक्ति धर्मविशेष के आधिक्य के वर्णन में होती है।[6] इन्होंने इसे न केवल उत्तम अलङ्कार बल्कि अनेक अलङ्कारों का परायण भी कहा।[7]

उद्भट पर भामह का प्रभाव है। उन्होंने इस अलङ्कार का आधार अतिलौकिकता को बताया।[8] इनके टीकाकार इंदुराज उद्भट के वक्तव्य को ही विस्तार से स्पष्ट करते

---

1. समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।। च० आ०, 5/62
2. समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंगविशेषणैः।
   व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।। सा० द०, 10/56
3. निमित्ततो वचो यत्तु, लोकातिक्रान्तगोचरम्। का०अ०, 2/81
4. इत्येवमादिरूदिता गुणातिशययोगतः। वही, 2/84
5. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। वही, 2/85
6. असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा। का० आ०, 2/214
7. अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
   वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाहयाम्। वही, 2/220
8. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
   मन्यनन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया बुधाः। का०सा०सं०, 2/23

हैं। इन्होंने इस अलङ्कार के चार भेद बताये जब दो वस्तुओं में भेद हो परंतु उसमें एकता का कथन हो तब प्रथम भेद होता है। यथा-तप और तेज के कारण और ज्यादा स्फुरित होती हुई स्वयं सौंदर्य रूपी तथा कांतिराशि से स्वभाव रूप से कृशकाय होने पर भी निःसंदेह भरे-पूरे शरीर वाली पार्वती देखी जाती हुई।[1] इस उदाहरण में निमित्त यह है कि तप के द्वारा जो तेज से पहले ही से सौंदर्यनिखार आ गया था उसमें अब कुछ और ही सौंदर्य आ गया है। इस निमित्तवश इस वाक्य का अर्थ कुछ लोकोत्तरता लिए हुए प्रतीत होता है। जब अभेदों में एकता में अनेकता कही जाय तब दूसरा भेद होता है। तद्यथा-भगवान शम्भु ने भी यह सोचा वाह क्या सौंदर्य है। तपस्या ने जैसे कौमार्यसुलभ सौंदर्य से कुछ और ही दे दिया हो।[2] इस उदाहरण में प्रथम तो कौमार्यसुलभ सौंदर्य ही परंतु वह उससे भिन्न यौवन सुलभ सौंदर्य के रूप में वर्णन किया गया है तो यहाँ अभेद में भेद का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यहाँ दूसरा भेद हुआ।

बाहर अविद्यमान अर्थ का संभावनावश यदि कथन हो तो यह तीसरा भेद होता है। यथा यदि चंद्रप्रभा प्रस्फुटित कमल पर गिरे तब इसके हाथों में पड़े हुए मुक्ताफल तथा अक्षमाला की उपमा हो सकती है।[3] इस उदाहरण में चंद्रकिरणों के संपर्क होने पर कमल का संकोच देखा जाता है ऐसा वास्तविक जगत् में संभव नहीं है। इसे कवि की प्रतिभा ही कहा जा सकता है। यहाँ लोकोत्तर उक्ति तथा संभावना का निमित्त है-भगवती पार्वती के हाथों में पड़े हुए मुक्ताफल तथा अक्षमाला का अवलोकन। यहाँ लोकोत्तर तथा अदृष्टपूर्व गौरी के हाथ तथा मुक्ताफल और अक्षमाला का आधाराधेयभाव है और उसी सजातीय विकसित कमल एवं चंद्ररश्मियों का यदि आधाराधेयभाव हो तब उमपानोपमेय भाव होगा। इसकी संभावना की गई है। जब कार्य एवं कारण में कार्य की शीघ्र उत्पत्ति द्योतित करने के लिए स्वभाविक पूर्वापरीभाव को जहाँ उलट दिया जाय तब चौथा भेद होता है। यथा-मानता हूँ कि इसके कटाक्ष पीछे से दिशाओं में बिखरते हैं, परन्तु प्रायः आगे काम की ही बाण परम्परा गतिशील

---

1. तपस्तेजः स्फुरितया निजलावण्यसंपदा।
कृशामप्यकृशामेव दृश्यमानामसंशयम्। वही, 2/26
2. अचिन्तयच्च भगवानहो नु रमणीयता।
तपसास्याः कृतान्यत्वं कौमाराद्येन लक्ष्यते।। वही, 2/27
3. पतेद्यदि शशिद्योतच्छ्य पद्मे विकाशिनि।
मुक्ताफलाक्षमालायाः करेऽस्याः स्यात्तदोपमा। वही, 2/28

दिखाई देती है।[1] इस उदाहरण में कार्य पहले स्पष्ट किया गया है और कारण को बाद में। जैसे कटाक्ष पीछे गिरते हैं और बाण परम्परा पहले। इस प्रकार यहाँ उलटा कहने का निमित्त है कि कार्य शीघ्र उत्पन्न प्रतीत हो। इसलिए कारणविशेष से लोकोत्तर कथन हुआ है। राजानक तिलक ने भी किसी हेतु विशेष से निबद्ध वचन को अतिशयोक्ति कहते हुए इसमें यही चार भेद वर्णित किये हैं।[2]

वामन के लक्षण पर भी भामह का प्रभाव है। ये सम्भाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना को अतिशयोक्ति कहते हैं।[3] आनंदवर्धन एवं अभिनवगुप्त ने इस अलङ्कार के स्वरूप में 'लोकातिक्रांत वचन' की बात कही है और ये परम्परा काफी दूर तक चली। कुंतक ने भी इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि जहाँ सहृदयों को आह्लादित करने के अनुरूप वर्ण्यगत धर्मों में अतिशय पैदा किया जाय, वहाँ अतिशयोक्ति होता है। मम्मट का कथन है कि उपमान द्वारा उपमेय के निगरण, प्रस्तुत अन्य रूप से वर्णन, तथा यदि के समानार्थक शब्द लगाकर कल्पना करने के साथ ही कार्यकारण के पौर्वापर्यविपर्यय में अतिशयोक्ति होती है।[4] इन्होंने भी अतिशयोक्ति के चार भेद किए जो उद्भट से प्रभावित हैं। रुय्यक का कथन है कि अध्यवसाय की प्रधानता इस अलङ्कार में होती है।[5] इन्होंने इसके पाँच भेद बताए-भेदेऽभेद:, अभेदे भेद:, सम्बन्धेऽसम्बन्ध:, असम्बन्धे सम्बन्ध:, कार्य-कारण-पौर्वापर्यविध्वंसश्च। जयदेव ने चन्द्रालोक में छह भेद बताए, लक्षण नहीं किया-अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्ताशयोक्ति, चपलताशयोक्ति। विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति को परिभाषित करते हुए कहा कि अध्यवसाय की सिद्धि होने पर अतिशयोक्ति होता है। उपमेय का

---

1. मन्ये च निपतन्त्यस्या: कटाक्षा दिक्षु पृष्ठत:।
   प्रायेणाग्रे तु गच्छन्ति स्मरवाणपरम्परा:। वही, 2/29
2. किंचिद्धेतुमवलम्ब्य यदलौकिकं वचो निबध्यते साऽतिशयोक्ति:।
   तस्याश्चत्वारो भेदा:-तथाहि भेदे अभेद:, अभेदे भेद:,
   बहिरसत: संभावनायां निबद्ध: कार्यस्य शीघ्रकालताप्रतिपादनाय पूर्वाभावित्वं कारणादिति। वही, 2/25
3. सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्ति:। का० सू० वृ०, 4/3/10
4. निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।
   प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।।
   कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्यय:।
   विज्ञेयाऽतिशयोक्ति: सा।। का० प्र०, 10/100, 101
5. अध्यवसितप्राधान्येत्वतिशयोक्ति:। अ०स०, पृ० 83

निगरण करके उपमान के साथ अभेद का ज्ञान में अध्यवसाय होता है।[1] अप्पयदीक्षित के अनुसार विषय के निगरण से विषय का विषयी के द्वारा ज्ञान होना ही रूपकातिशयोक्ति है।[2] इन्होंने जयदेव के छह भेदों के अतिरिक्त असंबंधातिशयोक्ति तथा सापह्नवातिशयोक्ति नामक दो और भेदों का वर्णन किया है। अस्तु।

अतिशयोक्ति भामह के अनुसार एक विशेष अलङ्कार है, वक्रोक्ति अलङ्कारत्व का बीजभूत[3] इन दोनों का विवेचन वामन ने पृथक् पृथक् किया। इन्होंने ही सर्वप्रथम वक्रोक्ति का निरूपण एक अलङ्कार विशेष के रूप में किया। अभिधेयार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ की उपलब्धि में वक्रता रहती है, और ये लाक्षणिक विवेचन ही वक्रोक्ति है। लक्षण में सादृश्य विशेषण का प्रयोग[4] उपमा से ही हुआ है, यह भी उपमा का एक प्रपञ्च है रुद्रट ने इसे शब्दालङ्कार का स्वरूप प्रदान किया।[5] गुणातिशय के आधार पर अतिशयोक्ति के विविध विकल्पों का कथन भामह ने किया था।[6] इसी से प्रभावित होकर उद्भट ने इसके चार भेद किए। इनके टीकाकारों ने भी इनका समर्थन किया है जिसका प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर भी पड़ा।

तृतीय वर्ग

यथासंख्य

अनेक धर्मों वाले अर्थों के क्रमानुसार अनुनिर्देश से जब लालित्य की सृष्टि होती है तो उसे यथासंख्य अलङ्कार कहते हैं।[7] मेधावी जो कि भामह से पूर्ववर्ती आलङ्कारिक थे तथा कदाचित् इस अलङ्कार के उद्भावक भी थे, ने इस अलङ्कार के

---

1. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।
   विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। सा० द०, 10/47
2. विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषयनिगरणं तत्पूर्वकं विषयस्य विषयिरूपतथाऽध्यवसानमाहर्यनिश्चयस्तस्मिन्सतिरूपकातिशयोक्तिः।
   कु० आ०, 36
3. सर्वालङ्कारबीजमेषेति भावः।
   अयं हि भामाहाशय।। का० प्र० बा० बो०, पृ० 744
4. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। का० सू० वृ०, 4/3/8
5. का० अ० (रू), 2/13-17
6. इत्येवमादिरूदिता गुणातिशययोगतः। का० अ०, 2/84
7. भूयसामुपदिष्यनामर्थनामसधर्मणाम्।
   क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्य तदुच्यते। का० अ०, 2/89

लिए 'संख्यान' शब्द का प्रयोग किया।[1] इसी क्रमवत्ता को ध्यान में रखकर दण्डी ने इसके नामों में 'क्रम' को भी जोड़ दिया।[2]

उद्भट के टीकाकार इंदुराज ने 'असमानधर्मा', विशेषण का अर्थ इस प्रकार किया है कि यदि 'असमानधर्म' भी हो तो यथासंख्य हो सकता है और असंकीर्ण रूप से हो सकता है। जहाँ समानधर्मा पदार्थों का उद्देश और अनुदेश हो, वहाँ संभवत: कोई और अलङ्कार हो सकता है। राजानक तिलक ने यहाँ असमानधर्मा विशेषण का स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि इसके द्वारा आचार्य यह बताना चाहता है कि यह उन पदार्थों में औपम्यभाव के अभाव में भी हो सकता है।[3] इसलिए यथासंख्य की असंकीर्णता को ध्यान में रखकर ही आलङ्कारिकों ने 'असमानधर्मा' की शर्त लगा दी है।

वामन ने इसके लिए क्रम शब्द का प्रयोग किया है। वामन का पूर्व आचार्यों (भामह और उद्भट) से यह भी मतभेद है कि इन्होंने 'असमानधर्मा' के विपरीत यह कहा कि 'उपमेय' एवं 'उपमान' का क्रम से संबंध स्पष्ट करना ही 'क्रम' नामक अलङ्कार होता है। इसी विषय पर रुद्रट को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हुए टीकाकार इन्दुराज ने कहा है कि केवल क्रम से कुछ पदार्थों का उद्देश और अनुनिर्देश कर देने मात्र से क्या चमत्कार होता। यदि अनेक पदार्थ पहले से निर्दिष्ट हैं, तब तो दोहरे या तेहरे अनुनिर्देशों से ही चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, परन्तु यदि दो ही पूर्व निर्दिष्ट पदार्थ हो, तो वहाँ कई बार एक से संबद्ध पदार्थों का अनुनिर्देश होना चाहिए। इंदुराज का कथन है कि यह अलङ्कार अनेक पदार्थों के क्रमानुसार से उपनिबद्ध होने पर ही सौन्दर्य का आधान कर पाता है। इसी सन्दर्भ में रुद्रट का कथन है कि यदि अनेक पदार्थ उद्दिष्ट हों, तो द्विगुण या त्रिगुण यथासंख्य निर्देश भी चारुता उत्पन्न करता है पर यदि उद्दिष्ट पदार्थ दो ही हों तो उनका अनेकशः यथासंख्य अनुनिर्देश अपेक्षित होता है।[4] यथा (1) कज्जल की कान्ति वाले, हिम की भाँति श्वेत, सुवर्ण के समान कान्तिमान्, (2) गरुड़, बैल तथा हंस वाहनों वाले, (3) समुद्र, पर्वत तथा कमल पर स्थित, (4) विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा आपको सुख प्रदान करें[5]। इस

1. संख्यानमिति मेधावी...। वही, 2/88
2. यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि। का० आ, 2/273
3. असधर्मणामित्युपमाया अभावेऽपि भवतीत्याह। का०सा०सं०, 3/2 पर वि०
4. तद्द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषूद्दिष्टेषु जायते रम्यम्।
   यत्तेषु तथैव ततो द्वयोस्तु बहुशोऽपि बध्नीयात्।। का० अ० (रू), 7/35
5. कज्जलहिमकनकरूचः सुपर्णवृषहंसवाहनाः शं वः।
   जलनिधिगिरिपद्मस्था हरिहरचतुरानना ददतु।। वही, 7/36

उदाहरण में हरि आदि तीन व्यक्ति हैं और उनके संबंध में क्रमानुसार कथन किया गया है। इनमें परस्पर साधर्म्य नहीं है। पर क्रम की पर्यालोचना द्वारा अर्थों के अनुरूप अन्वय स्पष्ट हो जाने से सौंदर्यातिशय प्रतीत होता है। इसलिए यथासंख्य की साधर्म्य आदि के नहीं रहने पर भी अलग रूप से अलङ्कारता जब सिद्ध है तो साधर्म्य जहाँ हो वहाँ भी अलङ्कारता होगी ही, ऐसा इंदुराज का कथन है। यथा-मृणाल को अपनी भुजाओं से, हंस को गति से तथा पद्मम को मुख से जीत लेने वाली इस नायिका द्वारा समस्त कमलिनियाँ भी जीत ली गई हैं।[1] इस उदाहरण में बाहु, चंक्रमण तथा आनन उद्दिष्ट हैं और क्रम से उनसे सम्बन्धित मृणाल, हंस और पद्मम का अनुनिर्देश हुआ है। इस प्रकार क्रमपूर्वक कथन की स्थिति होने से यथासंख्य होगा। तिलक द्विगुण, त्रिगुण अथवा चतुर्गुण के विवाद में नहीं गये परन्तु उन्होंने केवल इतना संकेत अवश्य किया है कि औपम्य भाव के अभाव में भी यह अलङ्कार अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रहता है। इन्होंने भी रुद्रट प्रदत्त उदाहरण को उपन्यस्त किया है। रुय्यक ने शाब्द और आर्थ दो भेद बताए।[2] जयदेव ने कारक और क्रिया बताया।[3] जगन्नाथ के अनुसार उपदेश के क्रम से अर्थों का संबंध यथासंख्य अलङ्कार होता है।[4]

कुल मिलाकर इसका स्वरूप अन्त तक वही रहा जो भामह के समय तक ही निर्णीत हो चुका था। केवल रुद्रट ने द्विगुण त्रिगुण आदि की बात की। टीकाकार इंदुराज ने भी इस चर्चा में रुचि दिखाई परन्तु तिलक द्वारा मौन प्रकट कर दिये जाने के बाद यह विचार समाप्त हो गया। तिलक का योगदान इस सम्बन्ध में माना जा सकता है। उद्भट ने तो केवल परम्परा प्राप्त स्वरूप का ही कथन कर दिया।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा को सौन्दर्य की एक विधा के रूप में भामह के पूर्व में ही आत्मसात कर लिया गया था। आधुनिक काल तक अधिकांशतर आचार्यों ने इसे अलङ्कार स्वीकार किया। भामह के अनुसार इसमें उपमानोपमेय के सामान्य गुणों का कथन न होते हुए भी औपम्य का कुछ स्पर्श रहता है। अतिशय के आधान के लिए असिद्ध गुण, क्रिया आदि की संभावना कर ली जाती है।[1] रुद्रट ने भामह को ध्यान में रखते

1. मृणालहंसपद्मानि बाहुचङ्क्रमणाननैः।
   निर्जयन्त्यानया व्यक्तं नलिन्यः सकला जिताः।। का० सा सं०, 3/3
2. तच्च यथासंख्यं शाब्दमार्थं च द्विधा। अ० स०, पृ० 149
3. यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत् क्रमादेकैकमन्विताः। च० आ०, 5/92
4. उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम्। र० गं०, पृ० 705

हुए इसे औपम्यगर्भ और अतिशयगर्भ दोनों वर्गों में स्थान दिया है। अनेक आचार्यों के लक्षणों में औपम्यगर्भ और अतिशयगर्भ दोनों वर्गों में स्थान दिया है। अनेक आचार्यों के लक्षणों में औपम्यगर्भता की चर्चा नहीं मिलती। परन्तु अतत् की तद्रूप में संभावना इसके स्वरूप की नियामिका बनी रही।[2] दण्डी का कथन है कि चेतन अथवा अचेतन प्रस्तुत की अन्यथा स्थित वृत्ति की अन्यथा संभावना उत्प्रेक्षा है।[3] इन्होंने उत्प्रेक्षा के लिए दो भेद का प्रयोग किया-चेतनगत तथा अचेतनगत।

उद्भट का कथन है कि जब प्रकृत एवं अप्रकृत के बीच साम्य का रूप प्रदर्शित करना विवक्षित न ह्रो, पर अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से अप्रकृत के गुण एवं क्रिया का विधान प्रकृत में किया गया हो तो ऐसी स्थिति में उत्प्रेक्षा होता है।[4] इंदुराज उद्भट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह एक प्रकार की संभावना है जो वस्तु जिस रूप में विश्व में संभव नहीं है उसका उसी रूप में संभावित वर्णन यहाँ होता है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा का तिषय लोकोत्तर होता है।

इसी संदर्भ को आगे बढ़ाते हुए इंदुराज ने कहा है कि इसके भी दो रूप होते हैं। कोई इव आदि के प्रयोग करने पर होती है और कोई इव आदि के प्रयोग नहीं करने पर अर्थतः प्रतीयमान होने पर। इनमें भी जो वाच्या शब्दतः इव आदि द्वारा ज्ञात होता है वह इव आदि के द्वारा अभिहित होती है। पर जो अर्थ सामर्थ्यवश आक्षिप्त इव आदि के द्वारा प्रतीत होती है तब वहाँ इवादि का प्रयोग नहीं किया जाता है। तद्यथा-चंदनासक्त आदि उदाहरण में[5] इवार्थ की अर्थतः प्रतीति ह्रो जाती है, अतः इसका शब्दतः प्रयोग नहीं है। इव आदि का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ इवादि शब्द के द्वारा ही उत्प्रेक्षा की स्थिति होती है।

जप के कारण पार्वती के मुख पर आयी कालिमा चंद्र के भ्रम से गिरी हुई (चन्द्रस्थ) कलङ्करेखा जान पड़ती थी। जप करते समय उनकी आँखें सूर्य की ओर

1. अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।
   अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता। का० अ०, 2/91
2. भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। सा० द०, 10/40
3. अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
   अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा। । का० आ०, 2/221
4. साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
   अतद्गुणक्रियायोगात् उत्प्रेक्षातिशयान्विता। का० सा० सं०, 3/4
5. चंदनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः।
   मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारूतः।। वही, 3/5 पर ल० वृ०

टिकी हुईं आतप का पान किया करती थीं।[1] आशय यह है कि वह सूर्य पर दृष्टि केंद्रित कर जप किया करती थी। इस उदाहरण में श्यामिका रूप उस कलङ्क (शश) के भगवती (वदन) पर आ पड़ने में मुख की चंद्ररूप में भ्रांति हो जाना ही कारण के रूप में उत्प्रेक्षित है। शशभावापन्न श्यामिका में इंदुभ्रांति रूप चेतन धर्म का संबंध स्थापित किया गया है। इसलिए उदाहरण में चेतनात्मक एक अलग वस्तु के गुण भ्रम का अचेतन से संबंध होने के कारण यहाँ इव आदि की प्रवृत्ति संभव हुई है। इंदुभ्रम भावात्मक गुण है जिसका संबंध शशात्मक श्यामिका या काले धब्बे रूप कर्त्ता से होता है और जो कविनिबद्ध पात्र भगवान शिव द्वारा-वहाँ संभावित किया जा रहा है। इसलिए अप्रकृत के गुण से संबंधित होने के कारण भावाभिमानवश उत्प्रेक्षा की गई है।

पार्वती के दोनों तथाविध कपोल दुःख की अवस्था में जो अधिक कृश हो गये थे, वह इसलिए कि वे परस्पर एक दूसरे को देख नहीं सकते थे।[2] इस उदाहरण में तपस्यावश कृश कपोलों की श्यामता के कारण रूप में आपस में अदर्शन रूप साध्य क्रिया की संभावना की गई है। परस्पर दर्शन के अभाव रूप क्रिया चेतन की ही हो सकती है, पर उसे उदाहरण में आरोपित किया गया है। इसलिये यहाँ अभावाभिमानोत्प्रेक्षा हुई।

राजानक तिलक के अनुसार यहाँ उपमानोपमेयभाव की अविवक्षा होती है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि यहाँ औपम्यभाव होता ही नहीं। प्रकृत की अप्रकृत के रूप में संभावना ही उत्प्रेक्षा है तथा इसका फल है-अतिशय, अर्थात् उपमेय का उत्कर्षख्यापन।[3] भामह और उद्भट दोनों ने ही इसमें अतिशय तत्त्व की स्थिति स्वीकार की थी। उसके बाद रुद्रट ने भी अतिशयमूलक अलङ्कारों में रखा परन्तु वामन का आग्रह समस्त अलङ्कारों को उपमामूलक सिद्ध करने का है।

वामन का कथन है कि जो वस्तु जिस प्रकार नहीं है उसका अतिशय द्योतन के निमित्त अन्यथा अध्यवसान उत्प्रेक्षा होता है।[4] रुद्रट ने उत्प्रेक्षा के संबंध में दो लक्षण दिए-प्रथम लक्षण में यह स्पष्ट किया कि उपमान में प्रसिद्ध होने से तथा उपमानोपमेय में अत्यधिक सादृश्य के कारण उनमें अभेद की स्थापना की जाय और उपमान के गुण यदि उपमेय में संभव नहीं तब भी उनका उपमेय में आरोप किया जाय तो वहाँ

1. अस्याः सदार्कबिम्बस्थदृष्टिपीतातपैर्जपेः।
श्यामिकाङ्केन पतितं मुखे चंद्रभमादिव। वही, 3/6
2. कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ। वही, 3/7
3. उपमानो...पर्यवसायिनीत्यर्थः। वही, 3/5 पर वि०
4. अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा। का० सू० वृ० 4/3/9

उत्प्रेक्षालङ्कार होगा।[1] अतिशय वर्ग में वर्णित उत्प्रेक्षा में यह स्पष्ट किया है कि जब किसी पदार्थ में अधिकता होने पर उसमें असंभव क्रिया की संभाव्यता का वर्णन किया जाय तथा जो क्रिया जिसमें नहीं हो उसकी भी विद्यमानता दिखायी जाय तो उत्प्रेक्षा कही जाएगी।[2]

मम्मट प्रकृत की अप्रकृत के रूप में संभावना करने को उत्प्रेक्षा कहते हैं।[3] रुय्यक ने अध्यवसाय में व्यापार की प्रधानता होने को उत्प्रेक्षा कहा है।[4] इनके विवेचन की विशेषता है-इसके भेदों का विस्तार। जयदेव ने वस्तु, हेतु एवं फल के रूप में संभावना करने को उत्प्रेक्षा कहा है।[5] विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुकरण किया है। प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में संभावना करने को उत्प्रेक्षा कहते हैं।[6] इन्होंने और भी आगे बढ़कर इसके एक सौ छिहत्तर भेदों का वर्णन किया है। अप्पयदीक्षित ने अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत की वस्तु, हेतु एवं फल के रूप में संभावना करने को उत्प्रेक्षा कहा है।[7] पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार जिसका जिस पदार्थ से भिन्न होना ज्ञात हो, उस पदार्थ की वैसे भिन्न पदार्थ के रूप में की जाने वाली ऐसी संभावना जो उन दोनों पदार्थों में किसी सुन्दर धर्म के निमित्त मानकर की गयी हो, उत्प्रेक्षा होती है।[8] अस्तु।

भामह से लेकर उद्भट तक उत्प्रेक्षा के लक्षण के नाम पर इसके स्वरूप का

---

1. अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भवाम्।
   आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा।
   सोन्येत्युपमेयगतं यस्या संभाव्यतेऽन्यदुपमेयम्।
   उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन।। का० अ० (रू०) 8/32, 34
2. यत्राततिथाभूते संभाव्यते क्रियाद्यसंभाव्यम्।
   संभूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा। वही, 9/11
3. संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत्। का० प्र० 10/92
4. अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा। अ० स०, पृ० 71
5. उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्रहेत्वादिर्निह्नुति विना
   इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षा प्रचक्षते।। च० आ०, 5/29-30
6. भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
   वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता। सा०द०, 10/40
7. संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तु-हेतु फलात्मना।
   उक्तानुक्तास्पदाद्यात्र सिद्धाऽसिद्धास्पदे परे।। कु०आ०, 32
8. तद्भिन्नत्वेन तदभावक्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीय तद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतर-तद्धर्मसंबन्धानिमित्तकं तत्त्वेनतद्धत्त्वेन वा संभावनमुत्प्रेक्षा। र० गं०, पृ० 374-75

विभिन्न विशेषणों के साथ विशद निरूपण किया जाता था। ध्वन्युत्तरवर्ती आचार्यों ने इनके विवेचन से, विशेष रूप से राजानक तिलक से संकेत लेकर जहाँ इसके लक्षण को संक्षिप्त किया वहीं क्रमशः इसके भेदों का विस्तार होता रहा जो विश्वनाथ में एक सौ छिहत्तर की संख्या तक पहुँच गया। राजानक तिलक ने इसमें दो ही भेद गिनवाये थे-वाच्या और गम्या।[1] इस प्रकार उत्प्रेक्षा के स्वरूप निरूपण की दृष्टि से जहाँ राजानक तिलक अधिक ग्राह्य हुए वहीं भेद विस्तार की परम्परा रुय्यक से प्रारम्भ हुई।

स्वभावोक्ति

प्रवृत्ति और प्रयोग के आधार पर सम्पूर्ण वाङ्मय स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में विभाजित है। स्वभावोक्ति सौन्दर्य की वह विधा है जो अलङ्कार से शून्य होने पर भी चमत्कृति का ही आधान करती है जबकि वक्रोक्ति में अलङ्कारत्व की मूल निहित है। स्वभावोक्ति में भी वक्रतावैचित्र्य की मूल निहित है। स्वभावोक्ति में भी वक्रतावैचित्र्य का किञ्चित अंश रहता है जो कि अस्फुट होता है। भामह के समय में ही आलङ्कारिकों का ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जो स्वभावोक्ति को अलंकृति की एक विधा के रूप में स्वीकार करता था। भामह वक्रोक्ति की तुलना में इसे अधिक महत्त्व नहीं दे सके जबकि दण्डी ने इस कमी को पूरा किया।[2] वे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को भिन्न मानते हैं। इनका कथन है कि उक्तिरूप समस्त वाङ्मय को इन दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है।[3]

कुन्तक ने स्वभावोक्ति के अलङ्कार होने का खण्डन किया है। उन्होंने स्वभावोक्ति को अलङ्कार्य और वक्रोक्ति को अलंकृत माना।[4] कुन्तक के इस प्रस्ताव का खण्डन का मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ आदि ने इसके स्वरूप को वैज्ञानिकता प्रदान की। रुय्यक ने इस वस्तुस्वभाव के लिए सूक्ष्म विशेषण का प्रयोग किया।[5] जो साहित्यदर्पण में दुरूह बन गया।[1] इस तरह से यह विचार अलङ्कार के रूप में शिखर पर पहुँच

---

1. उत्प्रेक्षा वाच्ये-नोथ्यत इत्यर्थः। का०सा०सं०, 3/7 पर वि०
2. (क) स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा। का० आ०, 2/8
   (ख) शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदिष्यते। वही, 2/13
3. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। वही, 2/365
4. अलङ्कारतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
   • अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते। व० जी०, 1/4
5. सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः। अ० स०, पृ० 177

चुका था तथा साहित्य सुधा सिन्धु[2] और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन[3] में इसके भेदों पर भी विचार किया जाने लगा था।

भामह का कथन है कि जो वस्तु जिस तरह की है उसका ठीक वैसा ही वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।[4] यथा-चिल्लाता हुआ, पुकारता हुआ, इधर-उधर दौड़ता हुआ और रोता हुआ बालक दंड से गायों को खेत में आने से रोक रहा है।[5] दण्डी के अनुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थित वस्तु के रूप को साक्षात् रूप से दिखलाने वाले अलङ्कार को स्वभावोक्ति कहते हैं। इन्होंने जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य के आधार पर चारों प्रकार का वर्णन किया है साथ ही साथ यह भी कहा कि काव्य में इसकी उपस्थिति आवश्यक होते हुए भी शास्त्रों में भी इसका साम्राज्य देखा जाता है।[6]

उद्भट पर भामह का प्रभाव है। इनके अनुसार किसी भी पशु-बालक आदि की अपनी जाति के अनुसार जब उनकी क्रियाएँ वर्णित होती हैं तो ऐसी अवस्था में स्वभावोक्ति होता है।[7] इंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि अपने स्वभावानुसार क्रिया जब दिखाई दे तो ऐसी स्थिति को स्वभावोक्ति कहते हैं। यथा-मृग का शावक आधा शरीर मोड़कर थोड़ी देर रोकर और फिर दूसरे ही क्षण अपने सींग से आगे पीड़ित कर पार्वती को अपने स्नेह से चंचल कर देता है।[8] इस उदाहरण में मृगशावक जो माता की तरह वत्सला भगवती पार्वती को अपने प्रणय से व्याकुल करता है, क्षणिक भर भी नहीं दिखाई देने के कारण आधा शरीर से मुड़ा हुआ, यह उसकी अपनी जाति का स्वभाव है। तिलक ने इस बात पर बल दिया कि इसमें किसी न किसी क्रिया में प्रवृत्त बालमृग आदि के हेवाक का समुचित निबन्धन होना चाहिए।

---

1. स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्। सा० द०, पृ० 10/93
2. सा च क्रियावर्णसंस्थानावस्थाभेदाच्चतुर्धा। सा० सु० सि०, 8/242
3. स च संस्थानस्थानकव्यपारादिस्तस्य वर्णनं जातिः। का० अनु०, 6/15
4. अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा। का० अ० 2/93
5. आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलै रूदन्।
   गा वांरयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः। का० अ०, 2/94
6. जातिक्रियागुणद्रव्यस्वस्वभावाख्यानमीदृशम्।
   शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्। का० आ०, 2/13
7. क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबंधनम्।
   कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता। का०सा०सं, 3/8
6. क्षणं नंष्ट्वार्धवलितः शृंगेणाग्रे क्षणं नुदन्
   लोलीकरोति प्रणयादिमामेष मृगार्भकः। वही, 3/9

केवल उसके स्वभावमात्र का कथन करने पर यह अलङ्कार नहीं होता।[1]

रुद्रट ने इस अलङ्कार को दण्डी से प्रेरणा लेकर जाति के नाम से कहा। इनके कथनानुसार वस्तु की क्रिया, रूप या अवयव का यथावत् वर्णन करना ही स्वभावोक्ति है।[2] मम्मट ने बालक आदि के अपने अनुसार क्रिया एवं रूप के वर्णन को स्वभावोक्ति कहा है।[3] रुय्यक के अनुसार यह क्रिया कवि की प्रतिभा द्वारा वर्णित वस्तु का सूक्ष्म रूप होता है।[4] विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुकरण क्रिया है। वे कवियों द्वारा ज्ञातव्य जो बालक आदि की चेष्टाएँ या स्वरूप है, उनके वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं।[5]

भामह के समय में ही स्वभावोक्ति की अलङ्कारता स्वीकार कर ली गयी थी[6] जबकि स्वयं भामह इसे अलङ्कार मानने की अपेक्षा अलङ्कारत्व का नियामक आधार ही मानने के अधिक पक्ष में हैं।[7] दण्डी ने अवश्य इसे काव्य में इष्ट माना तथा द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया के रूप में इसके अलग-अलग उदाहरण भी प्रस्तुत किये। उद्भट ने भी इसे अपनी स्वीकृति प्रदान की। रुद्रट ने इसे वास्तवमूलक अलङ्कारों के वर्ग में रखा। पूरी परम्परा में केवल कुन्तक ऐसे मान्य आचार्य है। जिन्होंने इसके स्वरूप पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। उत्तरवर्ती परम्परा में किसी ने उनकी इस स्थापना का आदर नहीं किया परन्तु उनके तर्क का सम्मान करते हुए इसके स्वरूप में कुछ परिष्कार अवश्य प्रस्तावित किये गये। वस्तु के इस स्वभावात्मक आख्यान को किसी ने सूक्ष्म, किसी ने दुरूह तथा किसी ने उसका विशिष्ट स्वभाव बताया। इस दृष्टि से सर्वप्रथम प्रयास राजानक तिलक का प्रतीत होता है। उद्भट का योगदान केवल इतना ही है कि उन्होंने आचार्यों के विवाद के मध्य इसे स्थायी स्वीकृति प्रदान की। इन्दुराज ने उद्भट के अभिप्राय को सुतरां स्पष्ट किया तथा राजानक तिलक ने इसके स्वरूप को वैज्ञानिकता प्रदान की।

चतुर्थ-वर्ग

1. व्यापारप्रवृत्तस्य बालमृगादेः समुचितहेवाकनिबन्धनं स्वभावोक्तिः। न तु स्वभावमात्रकथनम्। वही, 3/8 पर वि०
2. संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य सदृशं भवति। लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः। का० अ० (रू), 7/30
3. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। का० प्र०, 10/68
4. सूक्ष्मवस्तु-स्वभाव-यथावद्वर्णनं स्वभावोक्ति। अ० स०, पृ० 223
5. स्वभावोक्तिः दुरुहार्थ स्वक्रियारूपवर्णनम्। सा० द०, 10/93
6. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते। का० अ०, 2/93
7. युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। वही, 1/30

प्रेयस्वद्

'प्रेय' का अर्थ प्रेम है। इस प्रेमभाव को ही आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भामह ने इस अलङ्कार को जिस प्रकार से उदाहृत किया है, दण्डी ने उसे ही प्रिय कथन के रूप में व्याख्यात किया। जबकि उद्भट ने इसे एक नये रूप में विवेचित कर प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम 'प्रेयस्वद्' अलङ्कार की चर्चा भामह ने की। इन्होंने इस अलङ्कार के स्वरूप का वर्णन नहीं किया, महाभारत के एक प्रसंग को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है-पंक्ति इस तरह से है कि घर आये हुए कृष्ण से विदुर कहते हैं जो प्रेम मुझे आज आपके आने से प्राप्त हुआ है, वही प्रेम फिर कभी आपके आने से प्राप्त हो।[1]

दण्डी ने 'काव्यादर्श' में इस अलङ्कार का लक्षण किया है। 'प्रिय उक्ति'[2] अर्थात् प्रेम या प्रीति प्रधान वचन ही प्रेयस्वत् है। उदाहरण इन्होंने भामह का ही दिया है।[3]

आचार्य उद्भट ने भामह के प्रेयः लक्षण का विस्तार किया। वास्तव में प्रायः रसवद्, ऊर्जस्वि और समाहित अलङ्कारों का भामह से लेकर भी उद्भट ने अपनी मौलिक चिन्तन का स्पर्श प्रदान किया है। सर्वप्रथम इन्होंने रस, भाव आदि के साथ जोड़कर इनके संदर्भ में एक मौलिक और विकासवादी दृष्टि का परिचय दिया है। इस सन्दर्भ में हम उद्भट को भामहादि प्राचीन आचार्यों तथा मम्मटादि अर्वाचीन रसध्वनिवादियों के मध्य खड़ा पाते हैं। इनके अनुसार जिस काव्य में रति आदि समस्त भावों की अनुभाव आदि के द्वारा सूचना दी गई हो, वहाँ प्रेयस्वद् अलङ्कार माना जाना चाहिए।[4] इसलिए आनंदवर्धन ने भामह और उद्भट का 'प्रेयान्' अलङ्कार के सम्बन्ध में मतभेद प्रदर्शित करते हुए यह कहा है कि भामह के यहाँ गुरु, देव, नृपति, पुत्र विषयक 'प्रीति' ही का वर्णन प्रेयान् अलङ्कार के इस रूप में इष्ट है। प्रीति

---

1. अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
   कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः। का० अ०, 3/5
2. प्रेयः प्रियतराख्यानम्। का० आ०, 2/पृ० 225
3. अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
   कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः। का० आ०, 2/276
4. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
   यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्।। का०सा०सं०, 4/2

या प्रेम समस्त भावों का उपलक्षण है।

टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के ही कथन का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि संचारी, स्थायी एवं सात्त्विक-पचासों भावों का सूचन विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्ववाचक शब्द से होता है। अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि की सूचना से जिस काव्य का निर्माण होता है उसे प्रेयस्वत् कहते हैं। रति आदि भाव के तीन प्रकार होते हैं-स्थायी, व्यभिचारीभाव तथा सात्त्विक। जिनमें नौ स्थायीभाव हैं-रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, एवं शम।[1] तैंतीस व्यभिचारीभाव हैं-निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्तविबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, एवं वितर्क।[2] सात्त्विक भाव के आठ प्रकार हैं-स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय।[3] इस तरह से पचास भाव हुए। इन पचास भावों के सूचक अनुभाव आदि चार हैं-अनुभाव, विभाव, संचारी तथा स्वबोधक शब्द। अनुभाव के चार प्रकार हैं-आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य।[4] अठारह आंगिक अभिनय-जिसमें हाथ, पाँव आदि अंगों के द्वारा अभिनय किया जाता है।[5]

वाचिक अभिनय-वाणी अर्थात् बोलकर जो अभिव्यक्त किया जाता है।[6]

---

1. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
   जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः। वही, 4/2 पर ल० वृ०
2. निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूयामदश्रमाः।
   आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिधृतिः।
   व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा।
   गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।
   सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
   मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।
   त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
   त्रयस्त्रिंदशमी भावाः।। वही, 4/2 पर ल० वृ०
3. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
   वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृताः।-वही
4. तत्रानुभावश्चतुर्विधः-आङ्गिकः, वाचिकः सात्त्विक, आहार्यश्च।
5. आङ्गिको हस्ताभिनयादिः। वही
6. वाचिको काक्वादिप्रयोगः। वही

सात्त्विक स्तम्भ आदि है। आहार्य में क्षुल्ल, पगड़ी आदि परिधान सामग्री आती है। इस तरह से चारों प्रकार के अनुभाव कार्यरूप होने से कारणरूप भाव का बोध कराते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं–आलम्बन और उद्दीपन।

आलम्बन अर्थात् नायक के लिए नायिका आदि आलम्बन विभाव होता है।[1]

उद्दीपन–इन नायक नायिका में जिसके कारण रति आदि की भावना जागृत होती है जैसे–वातावरण, ऋतु इत्यादि।[2]

व्यभिचारीभाव उसे कहते हैं जिसमें भावों का संचरण होता है अर्थात् जिसमें नए–नए भाव बनते हैं फिर समाप्त हो जाते हैं।[3]

स्वशब्द–रति आदि के वाचक रति आदि शब्द हैं।[4] इस तरह से रति आदि इन पचास भावों का सामान्य रूप से जो कथन होता है उन भावों से उत्पन्न काव्य को ही 'प्रेयस्वद्' अलङ्कार कहते हैं। उदाहरण के रूप में एक पद्य को उद्धृत किया गया है जिसमें मृगशावक को अपने बच्चे की तरह समझनेवाली, अतः स्पृहावती पार्वती उसे (मृगशावक) को अपनी गोद में बिठाकर सान्त्वना दे रही है।[5]

तिलक ने रति को प्रियतम होने के कारण अन्य समस्त भावों का उपलक्षण स्वीकार किया है। विभाव तथा सहकारियों के गमकत्व के सिद्ध होने पर अनुभावों के द्वारा उनकी सूचकता बनती है। केवल अनुमिति मात्र के रूप में स्थित भाव ही काव्य के प्राण नहीं होते अपितु साधारणीभूत होकर रसना व्यापार के द्वारा अनुभूति का विषय बनने के बाद ही इनमें काव्यत्व उत्पन्न होता है। इसलिए रस, भाव आदि को काव्याचार्य व्यंग्य मानते हैं। परन्तु ये विभावानुभाव आदि कारण, कार्य और सहकारी रूप नहीं अन्यथा रससूत्रकार कारण, कार्य और सहकारी के संयोग से ही रस निष्पत्ति होती है। ऐसा कुछ कह सकते थे।[6] तिलक ने इस विषय से सम्बन्धित

---

1. तत्रालम्बनविभावो यदाश्रयेण रत्यादीनामुदयः यथा रामादेः सीतादिः। वही
2. उद्दीपनविभावस्तु यद्वशेन रत्यादीनां भावानामतिशयेन दीप्ता भवति यथा ऋतुमाल्यानुलेपनादिः। वही
3. व्यभिचारी तु रत्यादिकानां स्थायिनां भावानामवस्थाविशेषरूपो निर्वेदादिः। वही
4. स्वशब्दस्तु। वही
5. इयं च सुतवाल्लभ्यान्निर्विशेषा स्पृहावती।
   उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेमं क्रोड आत्मनः।। वही, 4/3
6. वस्तुवृत्तपरीक्षायां रसभावादयोऽनुमेया एव न भवन्ति।
   नहि विभावानुभावव्यभिचारिणः कारणकार्यसहकारिरूपाः। तद्रूपत्वे कारणं कार्यसहकारि संयोगात् रसनिष्पत्तिरिति ब्रूयात्। वही, 4/2 पर वि०

अपने विचारों को यहाँ विस्तार से नहीं कहा।[1] कदाचित् तिलक द्वारा उठाये गए इन प्रश्नों का समाधान करते हुए उत्तरवर्ती मम्मट आदि ने रस की अलौकिकता को सिद्ध करने के संदर्भ में कारण, कार्य आदि के साथ विभावानुभाव आदि की अभिन्नता को साक्षात् प्रतिपादित किया था। इंदुराज ने प्रेयस्वत् के संदर्भ में पचास भावों का परिगणन किया है। तिलक इस संख्या से सहमत नहीं हैं इनका कहना है कि हास आदि स्थायीभाव वस्तुतः हास्य आदि रस ही है। इसलिए इस संदर्भ में इनकी भावों में गणना उचित नहीं है। इसलिए उनके मत में इक्तालीस भावों का ही ग्रहण होगा।

कुंतक ने प्रेयस्वत् का खण्डन किया है। उनका कथन है कि प्रेयस्वत् आदि प्रियतराख्यान है तो वह अलङ्कार्य है, अलङ्कार नहीं। एक ही वस्तु अलङ्कार और अलङ्कार्य नहीं हो सकती। मम्मट ने प्रेयस्वत् को गुणीभूत व्यंग्य का ही एक प्रकार स्वीकार किया है। आनंदवर्धन इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जहाँ वाक्य प्रतिपाद्य अन्य अर्थ हो और उसी के अंग रूप में 'भाव' का विधान हो, वहां प्रेयस्वत् अलङ्कार होता है। जयदेव पर उद्भट का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इनके मतानुसार 'भाव' का विधान हो, वहाँ प्रेयस्वत् अलङ्कार होता है। जयदेव पर उद्भट का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इनके मतानुसार 'भाव' मूलक ही 'प्रेय' अलङ्कार हैं विश्वनाथ पर आनंदवर्धन और मम्मट का कुछ प्रभाव दिखाई देता है-जब भाव गुणीभूत हो जाते हैं, तब वे अलङ्कार कहे जाते हैं। अस्तु

जहाँ भामह एवं दण्डी ने 'प्रेयस्वद्' को 'प्रीति' तक ही सीमित रखा, वहाँ उद्भट ने 'भाव' सामान्य तक उसके रूप को व्यापक बना दिया। इंदुराज ने कहा कि संचारी, स्थायी एवं सात्त्विक इन पचासों भावों का सूचन विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्ववाचक शब्द से होता है। जबकि तिलक ने रति को प्रियतम होने के कारण अन्य समस्त भावों का उपलक्षण स्वीकार किया है। उद्भट ने इस अलङ्कार को भामह से लेकर भी इसके स्वरूप को विशद कर दिया है। इस दृष्टि से उनका महत्त्व सिद्ध है। दोनों टीकाकारों ने उद्भट के अभिप्राय को सुतरां स्पष्ट किया है। विशेष रूप से तिलक ने रति को सभी भावों में प्रधान मानकर एक प्रकार से नयी बात कही है।

रसवत्

रस काव्य का एक प्रधान तत्त्व है। काव्यचिन्तन के प्रारंभिक युग में ही इस तथ्य को समक्ष लिया गया था। जब अलङ्कार को काव्य का प्राणभूत तत्त्व माना जाता

---

1. यथा चैतत् तथा परीक्ष्यमाणं ग्रन्थगौरवमानयतीति न प्रतन्यते। वही, 4/2 पर वि०

था, तब यह रसवत् अलङ्कार था।[1] जब गुण अथवा गुणविशिष्ट रीति की प्रधानता स्वीकृत हुई तो यह एक गुण हो गया।[2] जहाँ ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया वहाँ यह रसध्वनि बनकर उपस्थित हुआ[3] और फिर क्रमशः इसे ही स्वतन्त्र रूप से काव्य की आत्मा स्वीकार कर काव्यत्व का प्राणभूत तत्त्व मान लिया गया।[4]

भामह और उद्भट के ग्रन्थों में इसे रसवत् अलङ्कार के रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ रसवत् से अभिप्राय है–रस से युक्त। काव्य में ऐसे शब्दार्थों का प्रयोग जो रस की स्पष्ट निष्पत्ति में सहायक हो, रसवत् अलङ्कार है। स्पष्टतः यहाँ रसादि उपकार्य है, अलङ्कार उसका उपकारक। कुन्तक ने यहाँ रसवत् शब्द में वतुप के स्थान पर वति माना है। उनका रसवत् से अभिप्राय है–रस के समान। अलङ्कार ही जब रस के समान आस्वादनीयता को प्राप्त कर ले तो वह रसवत् हो जाता है।

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इन्होंने कहा कि रसवत् अलङ्कार के लिए जब शृंगार आदि रस का नाटकीय ढंग से वर्णन हो वहीं इस अलङ्कार की स्थिति होती है। दण्डी ने यह स्पष्ट किया कि प्रेयस्वद् अलङ्कार में जो प्रीति रहती है, वह अपने आप में अपरिपुष्ट रहती है। यह प्रीति जब विभाव-आदि से पूर्णरूपेण परिपुष्ट हो जाती है तब शृंगार रस हो जाती है और इस तरह से जब कोई स्थायीभाव परिपुष्ट होकर रस के रूप को धारण करता है तब काव्य में रसवद् अलङ्कार होता है। इन्होंने इस सन्दर्भ में आठों[5] रसों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

रसवद् अलङ्कार के विषय में उद्भट ही ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से आठ रसों के साथ शांत[6] रस का नाम लिया है। इन्होंने इस अलङ्कार के लिए यह बताया कि रसवत् अलङ्कार की पूर्णता के लिए इसके पाँच रूपों में वर्णन होता है। ये पाँच रूप हैं–विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी और स्वशब्द।[7] इन्होंने भामह से

---

1. रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसं यथा।
   देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता। का० अ०, 3/6
2. दीप्तरसत्वं कान्ति। का० सू० वृ०, 3/2/15
3. रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः। ध्व० आ०, 1/4 पर लो०
4. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्कारीतयः। सा० द०, 1/3
5. इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। का० आ०, 2/292
6. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
   वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृता। का०सा०सं०, 4/5
7. रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसोदयम्।
   स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पद्म।। वही, 4/4

इतना जरूर ग्रहण किया है–कि इसके लिए श्रृंगारादि रस स्पष्ट रूप से उद्दीप्त होने चाहिए। पर स्पष्ट और विस्तृत विवेचन का श्रेय उद्भट को ही जाता है। इनके टीकाकारों ने इसे और विशद कर दिया। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का विषय काव्यशास्त्र के एक अवश्य वर्णनीय तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। नाट्य में नौ रस होते हैं। अन्य संचारियों में भी आस्वाद्यता, रसनीयता है, पर इसको आचार्यों ने मधुर आदि की भाँति 'रस' शब्द से कहना चाहा है। यह रसनीयता चूँकि निर्वेद आदि संचारी भावों में भी है अतः वे भी रस कहे जाएँ।[1] इंदुराज ने भी कहा है कि रस उसे कहना चाहिए जिसमें क्रमशः चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो और उससे उसका परिहार भी हो। चैतन्य का ही एक रूप होने से तथा आस्वाद्य होने से उस चैतन्य भेद को रस कहा जा सकता है।[2] उदाहरण उद्भट के कुमारसंभव काव्य का है। पार्वती के समस्त गुणों का इस प्रकार भावन करने वाले शंकर का कामकंदर्प नानाविध संकल्पों से परिपूर्ण हो महाप्रबल हो गया।[3] स्वेदमय शरीर रोमाञ्चित हो उठा। रोमाञ्च ऐसे लगते थे जैसे कदम्ब की कलिका के कोश से प्रसूत केसर राशि ही हो।[4] इनका मुख उन आँखों से जो क्षण भर के लिए औत्सुक्य से भर उठी हो, चिन्ता से निश्चल हो रही हो तथा प्रमोद से अलसा उठी थी, युक्त था।[5] यहाँ भगवान शंकर का विप्रलम्भ श्रृंगार निबद्ध है। स्वशब्द रति है। औत्सुक्य, चिंता एवं हर्ष–नामक संचारी स्पष्ट शब्दोक्त है। इसी प्रकार स्वेद और रोमाञ्च सात्त्विक भाव भी शब्दोपात्र है।[6] वे भी संचारी है क्योंकि सात्त्विक भी स्थायीभाव की एक विशेष अवस्था है अतः निर्वेद आदि की भांति वे भी एक तरह के संचारी ही है।[7] रति 'भावयतस्तस्य' द्वारा विभाव का निर्देश किया

---

1. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
   निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेपि रसाः। वही, 4/5 ल० वृ०
2. चतुवर्गेतरौ प्राप्यपरिहार्यौ क्रमाद्यतः।
   चैतन्यभेदादास्वाद्यात्स रसस्तादृशो मतः। वही, 4/5 पर ल० वृ०
3. इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
   संभृतानल्पसंकल्प कंदर्पः प्रबलोऽभवत्। वही, 4/6
4. स्विद्यतापि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
   कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोपमम्। वही, 4/7
5. क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
   क्षणं प्रमोदालस्या दृशाऽस्यास्यमभूष्यत। वही, 4/8
6. संचारिणश्चौत्सुक्यचिंताहर्षाः स्वशब्देनोन्मीलिताः।
   स्वेदरोमाञ्चौ च सात्त्विकौ स्वशब्दोपात्तौ। वही, 4/8 पर ल० वृ०
7. सात्त्विकानां स्थायिभावावस्थाविशेषत्वेन निर्वेदादिवत् संचारित्वात् वही, 4/8 पर ल० वृ०

गया है।[1] इसलिए स्ववाचक आदि पाँच साधनों के द्वारा पार्वती की शिवनिष्ठ अभिलाषारूप विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यंजना की गई है।[2]

तिलक के अनुसार स्वशब्द उस रस का सामान्य रूप से वाचक होता है, जो अभिव्यक्त हो रहा है,[3] परंतु वह उस रस की अभिव्यंजना में समर्थ नहीं होता। जिन कान्ता आदि को आलम्बन बनाकर रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वह आलम्बन कारण होता है।[4] जिन वसन्त चन्द्रमा आदि से ये रति आदि भाव वृद्धि को प्राप्त करते हैं वे उद्दीपन कारण है।[5] चित्त की स्थायी वृत्तियाँ स्थायिभाव तथा जो इनकी उद्दीप्ति में सहायक होता है वह व्यभिचारिभाव है।[6] इस स्थायिभाव के स्थित होने पर अंगों में जो विकार उत्पन्न होते हैं वे अनुभाव कहे जाते हैं।[7] इनका अभिनयों द्वारा प्रकटीकरण होता है। वामन तो शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त अन्य सभी अलङ्कारों में उपमामूलकता की शर्त्त अनिवार्य रूप से लगाते हैं।[8] मम्मट इसे अपरोङ्ग नामक गुणीभूतव्यंग्य में रखने के पक्ष में है।[9] कुंतक ने इसके विषय में विस्तृत विवेचन किया है। इसके अनुसार इस तत्त्व के विधान से, सहृदयों को आह्लाद-मग्न करने में समर्थ जो अलङ्कार रस के समान हो जाता है, वही अलङ्कार रसवत् अर्थात् रस के समान कहा जा सकता है।[10] रुय्यक ने कहा है कि जहाँ रसादि विषय अंग बनकर प्रयुक्त हों, वहाँ रसवत् अलङ्कार होता है। जयदेव पर रुय्यक का प्रभाव है। विश्वनाथ पर भी रुय्यक का प्रभाव है। अप्पयदीक्षित ने जयदेव का अनुकरण किया है।

भामह ने रसवद् अलङ्कार का विवेचन किया है। इन्होंने कहा कि जहाँ स्पष्टतः शृंगार आदि रस दर्शित होते हैं वह रसवत् अलङ्कार है। दण्डी ने अलग-अलग रसों के आठ उदाहरण प्रस्तुत किये इन्होंने कहा कि रस का चमत्कारपूर्ण वर्णन ही प्रेयस्वद् अलङ्कार है।

1. विभावस्तु इति भावयतस्तस्येति निर्दिष्टः। का०सा० सं०, 4/8 पर ल० वृ०
2. अतोऽत्राभिलाषिकः शृंगाररसः स्वशब्दादिभिः पञ्चभिव्यज्यते। वही, 4/8 पर ल० वृ०
3. य(त)त्र स्वशब्दस्तद्वाचकः सामान्येन न तु तदभिव्यक्तौ शक्तः। वही, 4/5 वि०
4. स आलम्बनकारणम्। वही
5. तदुद्दीपन कारणम्। वही
6. स व्यभिचारिभावः। वही
7. स्तेऽनुभावाः। वही
8. का० सू० वृ०, 4/3/1
9. एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्। का० प्र०, 5/123
10. अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्। स्वरूपादिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि। व०जी०, 11, पृ० 156

उद्भट ने कहा कि जहाँ शृंगार आदि रस स्पष्ट, परिपुष्ट एवं प्रधान रूप में स्थित हो, वहाँ रसवदलङ्कार समझना चाहिए। उद्भट ऐसे पहले काव्यशास्त्री आचार्य हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से आठ रसों के साथ 'शांत' रस का भी नामतः उल्लेख किया है। टीकाकार इंदुराज के अनुसार रसवत् अलङ्कार शृंगार आदि रसों में है। तिलक ने यहाँ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि की व्याख्या प्रस्तुत की है जो इन पारिभाषिक शब्दों के स्वरूप को सुतरां स्पष्ट करती है। वामन तो शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त अन्य सभी अलङ्कारों में उपमामूलकता की शर्त्त अनिवार्य रूप से लगाते हैं। मम्मट इसे गुणीभूतव्यंग्य में रखने के पक्ष में हैं। कुंतक इसका विशद विवेचन करते हैं। रुय्यक के अनुसार जहाँ रसादि विषय अंग बनकर प्रयुक्त हो, वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार होता है। जयदेव और विश्वनाथ पर रुय्यक का ही प्रभाव है। अप्पयदीक्षित ने जयदेव का अनुकरण किया।

ऊर्जस्वि

भामह ने इस अलङ्कार की परिभाषा नहीं दी। महाभारत के प्रसंग के उदाहरण में स्पष्ट है कि ऊर्जस्वि अपनी ऊर्जा की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्त से युक्त है।[1] दण्डी ने भी इसका लक्षण नहीं दिया, उदाहरण प्रस्तुत किया है। उद्भट के अनुसार काम-क्रोधादि के कारण अनौचित्य प्रवृत्त[2] रसों और भावों का वर्णन ऊर्जस्वि है।[3] इंदुराज ने उद्भट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि रस एवं भाव का कहीं तो शास्त्रीय ज्ञान के अनुरूप अपनिबंध होता है और कहीं विरुद्ध। जहाँ शास्त्रीय ज्ञान के विरुद्ध उपनिबंध होता है वहाँ ऊर्जस्वि अलङ्कार होता है।[4] कारण यह है कि वहाँ राग, द्वेष एवं मोह के कारण उचित रूप से रस भाव आदि का उपनिबंध नहीं होता है। इसलिए स्वयं की कल्पना से परिकल्पित होने के कारण ऊर्जा या बल की विद्यमानता होती है-अतः यहाँ ऊर्जस्वि का व्यवहार होता है।[5] उदाहरण शिव में भी काम की

---

1. ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
   द्विः सन्धाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः। का० अ०, 3/7
2. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
   भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते। का० सा० सं०, 4/5
3. यत्र तु तद्विरुद्धत्वं तन्मूललोकव्यवहारविरुद्धत्वं च तद्विषयाणां
   रसभावानामुपनिबन्धे सत्यूर्जस्विकाव्यं भवति। वृत्ति, पृ० 54
4. रसभावानां यत्र तु तद्विरुद्वत्वं तन्मूललोकव्यवहारविरुद्धत्वं च तद्विषयाणां रसभावानामुपनिबंधे
   सति ऊर्जस्वित्काव्यं भवति। का० सा० सं०, 4/9 पर ल० वृ०
5. अत्र एव तत्र स्वकल्पनापरिकल्पितत्वेन उर्जसो बलस्य विद्यमानत्वाद् ऊर्जस्विव्यपदेशः।
   ज्योत्स्ना तमिस्रा इत्यत्र ऊर्जस्विशब्दः। वही।

वृद्धि उसी प्रकार हुई, जिस प्रकार हिमगिरि की सुता में। वह बलपूर्वक सत्पथ का परित्याग कर संग्रहार्थ प्रवृत्त हुआ।[1] प्रस्तुत उदाहरण में पूरे विश्व का अतिक्रमण करने वाले शंकर के प्रति अविवाहित कुमारी को विषय बनाकर काम का जो हठसंग्रह है वह शास्त्रीय अंकुश के विरुद्ध है और प्रवृद्ध राग के कारण है- इसलिए यहाँ ऊर्जस्विता है।[2] प्रस्तुत प्रसंग में 'काम बढ़ा' यह प्रयोग स्ववाचक शब्द है शृंगार का। क्योंकि रति के पोषण होने से काम की वृद्धि होना उसका स्वभाव है और इसमें व्याप्त काम शब्द शृंगार रस के स्थायिभाव रति का ही वाचक 'स्वशब्द' है।[3] यहाँ हिमगिरि का सुता आलम्बन विभाव है।[4] 'हठेन' तात्पर्य आवेग रूप व्यभिचारीभाव का प्रयोग हुआ है।[5] सत्यपथ का त्याग कहने से 'मोह' ध्वनित होता है। संग्रहार्थ प्रवृत्त हुए इस उक्ति से आंगिक अनुभाव कहा गया है। इस तरह से स्ववाचक शब्द आदि पाँचों सामग्री से ऊर्जस्वि रूप शृंगार सूचित हो रहा है।[6] तिलक ने ऊर्जस्वि अलङ्कार का विवेचन करते हुए कहा है–काम, क्रोध आदि कारणों से शास्त्र विरुद्ध रूप से जब रस तथा भाव उपनिबद्ध होते हैं तब ऊर्जस्वि अलङ्कार होता है।[7] शास्त्र विरुद्ध कहने से यहाँ एक प्रकार का अनौचित्य भाव ही प्रकट हुआ। प्रेयः और रसवत् अलङ्कार जहाँ शास्त्र सम्मत होते हैं,[8] वहाँ यह अलङ्कार ऊर्जा अथवा बल की विद्यमानता के कारण प्रवृत्त होता है।[9]

भामह ने ऊर्जस्वि अलङ्कार की परिभाषा नहीं दी, केवल उदाहरण से ही स्पष्ट किया है। दण्डी ने भी लक्षण नहीं दिया केवल उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। उद्भट के अनुसार काम क्रोध आदि व्यक्तिगत कारणों से उत्पन्न अनौचित्य का जब रस एवं

---

1. तथा कामोऽस्य बवृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
   संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्। वही, 4/10
2. अत्र सकललोकातिशायिनो भगवतोऽकृतविवाहकुमारीविषयतया हठसंग्रहः शास्त्रसंविद्धिरुद्धः प्रवृद्धरागकारणक उपनिबद्धस्तेन ऊर्जस्विता। वही, 4/10 पर ल० वृ०
3. तत्र कामो ववृंधेइत्ययं शृंगाररसस्य स्वशब्दः तस्य रतिपरिपोषकात्मकत्वेन कामवृद्धिस्व-भावत्वात्। वही
4. हिमगिरेः सुतामित्यालम्बनविभावः। वही
5. हठेनेत्यनेनावेगलक्षणो व्यभिचारी भावः प्रतिपादितः। वही
6. एवमयमत्र पञ्चभिः स्वशब्दाभिरूर्जस्विलक्षणः शृंगारः सूचितः। वही
7. कामक्रोधादिभिः कारणैः शास्त्रविरुद्धेन रूपेण रसा भावा यदुपनिबध्यन्ते तदूर्जस्वि। वही, 4/9 पर वि०
8. शास्त्राविरोधे तु प्रेयोरसवदलङ्कारौ। वही।
9. ऊर्जसो बलस्य विद्यमानत्वाच्चोर्जस्विता। वही

भावद्योतक सामग्री में सन्निवेश कर दिया जाता है तब उस अनुचित सामग्री से रसभावमयी रचना में ऊर्जस्वि अलङ्कार होता है। इंदुराज ने उद्भभट के अभिप्राय को स्पष्ट किया-रस और भाव की द्योतक सामग्री कहीं शास्त्र के उपनिबंध होता है तो कहीं विरुद्ध। जहाँ विरुद्ध प्रयोग होता है, वहाँ ऊर्जस्वि अलङ्कार होता है। तिलक ने काम, क्रोध आदि कारणों से शास्त्र विरुद्ध रूप से जब रस तथा भाव उपनिबद्ध होते हैं तब ऊर्जस्वि अलंकार होता है।

पर्यायोक्ति

पर्यायोक्त शब्द पर्याय और उक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है। पर्याय का अर्थ है प्रकार। जब अभीष्ट कथन को सीधे ढंग से न कहकर उसे घुमा-फिरा कर कहा जाता है तब पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। भामह ने कहा है कि जब कोई इच्छित बात सीधे रूप से न कहकर घुमा फिराकर कही जाय तो पर्यायोक्त होता है।[1] यथा-शिशुपाल के प्रति कृष्ण की उक्ति को उद्धृत किया गया है। शिशुपाल द्वारा दिए गए भोजन में विषादि की आशंका से कृष्ण भोजन के निषेध को सीधे न कहकर इस प्रकार कहते हैं-हमलोग उस अन्न का भक्षण नहीं करते, जिसमें से स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणों ने पहले खा नहीं लिया है चाहे घर हो या बाहर।[2]

परवर्ती आचार्यों ने भी शब्दों में कुछ अन्तर लाकर इसी परिभाषा को अपनाया। दण्डी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है कि अभीप्सित अर्थ को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से कहना पर्यायोक्त है।[3] उद्भट ने पर्यायोक्त के संदर्भ में अवगमात्मक व्यापार पर ज्यादा जोर दिया है। अर्थात् वाच्य-वाचक वृत्तियों से भिन्न अन्य प्रकार से अर्थ की अवगति ही पर्यायोक्त अलङ्कार होता है।[4] इनका कथन है कि वक्तव्य की स्पष्टता वाच्यार्थ के द्वारा होती है न कि शब्द की अभिधा सामर्थ्य से। शब्द के द्वारा सर्वप्रथम (आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से) जो अर्थ की प्रतीति होती है उससे

---

1. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। का० अ०, 3/8
2. उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा।
   गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्जमहे यदधीतिनः।
   न भुञ्जते द्विजास्तच्च रसदाननिवृत्तये।। का० अं०, 3/8-9
3. अर्थभिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।
   यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते। का० आ, 2/295
4. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना। का० सा० स०, 4/11

वक्ता का आशय स्पष्ट नहीं होता, बल्कि प्रकरण आदि के विषय में उसके आशय पर भी ध्यान देना चाहिए, तब जाकर सही अर्थ का पता चलता है। उद्भट के टीकाकार इंदुराज के अनुसार जहाँ वाच्य व्यापार तथा वाचक व्यापार से शून्य अवगमात्मना अन्य रूप से बात कही जाय वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। वाचक अभिधायक या स्वबोधक शब्द का व्यापार है–वाच्य अर्थ का ज्ञान कराना और वाच्य का अभिधेय का व्यापार है–वाच्यान्तर के साथ आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से संसर्गावगम।[1] इस तरह से वाचक और वाच्य के व्यापार हैं–उसके बिना ही प्रकारान्तर से अर्थसामर्थ्य रूप अवगम से जो प्रतीत हो जाय, वही शब्दानुक्त होने पर भी व्यवहित व्यापार से अवगत होने के कारण पर्यायोक्त वस्तु कही जाती है।[2] यथा जिसने गजासुर के वध को ऐसा कर दिया कि उसकी अलकें लम्बी लम्बी खुली ही रहीं, आँखे आँसुओं से भर गई, छाती पर हाथ पीटते–पीटते स्तन अरूणाभ हो गये, कंकण फोड़ दिये गये, उस (भगवान शंकर) को भी जिस दग्धकाय व्यक्ति ने इस प्रकार व्याकुल कर दिया–उस अवार्यशक्ति वाले मकरकेतु को नमस्कार है।[3] प्रस्तुत उदाहरण में अलकों का लम्बायमान रहना ये जो कार्य कहे गये हैं–वे निजी कारण गजासुरवध के वाच्य वाचक व्यापार के बिना ही प्रतीत हो जाते हैं। उसी प्रकार नमस्कार के साथ प्रतीयमान उस अर्थ के द्वारा लम्बालकत्व आदि अर्थ अलंकृत किये जाते हैं इस तरह से यही पर्यायोक्त अलङ्कार हुआ। उद्भट के टीकाकार तिलक ने भी उद्भट के ही आशय को इस तरह से स्पष्ट किया है कि यहाँ वाच्य–वाचक वृत्ति के बिना ही अर्थसामर्थ्य रूप अवगम स्वभाव के द्वारा जो अर्थ प्रतिपादित किया जाता है वह पर्यायोक्त है। यह दूसरा अर्थ वक्ता का तात्पर्याय ही होता हैं।[4] इस प्रकार यहाँ

---

1. वाच्यस्य त्वभिधेयस्य व्यापारो वाच्यान्तरेण सहाकांक्षासन्निधि योग्यता महात्म्यात् संसर्गगमनम्। वही, 4/11 पर ल० वृ०
2. सामर्थ्यात्मनावगमस्वभावेन यदवगम्यते तत् पर्यायेण स्वकण्ठानभिहितमपि सान्तरेण शब्दव्यापारेणावगम्यमानत्वात् पर्यायोक्तं वस्तु। वही
3. येन लम्बालकः साश्रः करघातारुणस्तनः।
   अकारि भग्नवलयो गजासुरवधूजनः। वही, 4/12
   सोऽपि येन कृतः प्लुष्टदेहेनाप्येवमाकुलः
   नमोऽस्तववापारवीर्याय तस्मै मकरकेतवे। वही, 4/13
4. वाचकवृत्तिरभिधा। वाच्यवृत्तिराकाङ्क्षासंनिधियोग्यतावशात् संसर्गगमनम्। ताभ्यां विनाऽर्थसामर्थ्यात्मनाऽवगमस्वभावेन यत् प्रतिपाद्यते तत्पर्यायेणान्येन रूपेणाभिधानाभिति पर्यायोक्तम्। वही, 5/11 पर वि.

भंग्यन्तर के द्वारा कथन किया जाता है। यहाँ वस्तुतः वक्ता का तात्पर्य वही अर्थ होता है जो गम्य है, वाच्य नहीं क्योंकि जो अर्थ गम्य होता है वह अभिहित नहीं होता है।

इस संदर्भ में राजानक तिलक ने कुछ आचार्यों का मत उद्धृत किया जो पर्यायोक्त अलङ्कार की अभिव्यक्ति पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि क्यों न गम्यमान अर्थ का भी साक्षात् कथन ही किया जाय।[1] जो बात सीधे ढंग से कही जा सकती है उसे काव्यात्मक सौंदर्य उत्पन्न करने के लिए यदि प्रकारान्तर से पढ़ा जाए तो वह पर्यायोक्त अलङ्कार होगा, जो एक प्रकार से कुंतक की पर्याय वक्रता ही है। विवृत्ति टीकाकार ने यहाँ उन आचार्यों का भी मत उद्धृत किया है जो पर्यायोक्त के विषय क्षेत्र को प्रयोजनवती लक्षणा की सीमा तक ले जाते हैं। इसे ही आगे बढ़ाते हुए ध्वनिवादियों ने इसे व्यंजना व्यापार तक बढ़ा लिया। ध्वन्यालोककार का यह कथन है कि जिसे अवगमात्मक अर्थ कहते हैं वही वास्तव में ध्वन्यर्थ है।[2] अभिनवगुप्त पर उद्भट के 'अवगमात्मना' शब्द का प्रभाव है। इन्होंने भामह और दण्डी के इस अलङ्कार के संबंध में 'अन्य प्रकार से कहना' इस व्याख्या को युक्तिसंगत नहीं माना, क्योंकि यदि 'राम' कहना है तो उसी अर्थ को 'राम' शब्द द्वारा न कहकर 'दाशरथि' जैसे अन्य प्रकार से कहने से 'पर्यायोक्त' नहीं हो सकता। अतः इच्छित अर्थ को उन्होंने 'पर्यायवाची शब्द से न कहकर व्यंजक शब्द से कहे जाने पर पर्यायोक्त माना है। रुय्यक के अनुसार पर्यायोक्त में जो व्यंग्य होता है वही वाच्य भी होता है। विश्वनाथ ने रुय्यक का ही अनुकरण किया है। अस्तु।

पर्यायोक्त अलङ्कार के स्वरूप को सर्वप्रथम भामह ने स्पष्ट किया। इन्होंने कहा कि किसी भी बात को घुमा फिराकर कहने को पर्यायोक्त कहते हैं। दण्डी ने 'प्रकारान्तरख्यान' की बात कही है। उद्भट ने अवगमात्मक वृत्ति पर ज्यादा जोर दिया है। अभिधा का निरपेक्ष ढंग से अन्तरित शब्दव्यापार द्वारा जहाँ अभिप्रेत अर्थ का अभिधान किया जाए वही पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। कुन्तक इस सारे विवेचन को पर्याय वक्रता की परिधि में लाने का प्रयास कर रहे हैं जबकि रसध्वनिवादियों ने उद्भट के अवगमात्मक व्यापार को ध्वनन व्यापार ही सिद्ध करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से आनंदवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट तीनों ही सचेष्ट दिखाई देते हैं। रुय्यक ने कहा कि पर्यायोक्त में जो व्यंग्य होता है वही वाच्य होता है। विश्वनाथ ने

---

1. अन्ये त्वाहुः अवगम्यमानोऽप्यर्थोऽभिधीयतामुक्तक्रमेण। कथं त्ववगमव्यापारेणाभिधानम्। वही
2. पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। ध्व० आ०, प्रथम उद्योत, पृ० 54, विद्याविलास प्रेस, वाराणसी।

रुय्यक का ही अनुकरण किया है। इस तरह से उद्भट ने 'अवगमात्मना' शब्द का प्रयोग करके जहाँ पूर्वाचार्यों के अभिप्राय को सटीक शब्द दिया वहीं उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। इस दृष्टि से उन्हें निःसन्देह रसध्वनिवादियों का उपजीव्य कहा जा सकता है। उनके टीकाकारों ने उनके अभिप्राय को सुतरां स्पष्ट किया। विशेष रूप से तिलक ने अप्रस्तुतप्रशंसा के संदर्भ में इससे सम्बन्धित अनेक पक्षों को उद्घाटित किया है।

समाहित

भामह ने समाहित अलङ्कार का लक्षण नहीं दिया, उसे केवल उदाहरण से स्पष्ट किया। दण्डी के अनुसार किसी कार्य को आरम्भ करते हुए दैववशात्[1] उस कार्य का सम्पादक साधनान्तर प्राप्त हो जाना समाहित है। उदाहरण स्वरूप उन्होंने कहा–माननिराकरण के लिए ज्योंही उसके पैरों पर मैं गिरने ही वाला था कि सहसा बादल गरज उठा।[2] उद्भट ने समाहित को एक नये रूप में प्रस्तुत किया और यही रूप आगे चलकर मान्य हुआ। इनके अनुसार जहाँ रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास का प्रशम हो, वहाँ समाहित नामक अलङ्कार होता है।[3] जहाँ किसी रस की वासना निष्पन्न होकर भी अन्य मनोवृत्ति के कारण रसान्त हो जाए वहाँ प्रशम का चमत्कार माना जाता है। इंदुराज ने उद्भट के कथन को स्पष्ट करते हुए कहा कि रस, भाव एवं रसाभास तथा भावाभास की वृत्ति का जहाँ प्रशम कहा गया हो और अतिरिक्त रसादि के अनुभावादियों की पूर्णतः शून्यता हो वहाँ समाहित अलङ्कार होता है। रसभाव के शास्त्रीय समयानुसार दो प्रकार हैं विरोध और अविरोध भाव।[4] जब इनमें से शास्त्रीय समय से अविरोध रखनेवाले हों तो वे रस, भाव, रसभास एवं भावाभास का अपने आश्रय में स्थित रहने की जो रति है–प्रशम है–वह यदि निबद्ध हो, तो वैसी स्थिति में समाहित नाम का अलङ्कार होगा।[5] इंदुराज ने यह कहा कि जब काव्य में रसादि का

---

1. किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
   तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्। का० आ०, 2/298
2. मानमस्या निराकर्तुं पदायोर्मे पतिष्यतः।
   उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं धानगर्जितम्। वही, 2/229
3. रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबंधनम्।
   अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम्। का०सा०सं०, 4/14
4. इह रसभावानां शास्त्रसमयाविरुद्धेन तद्विरुद्धेन च रूपेण द्वैविध्यमुक्तम्। वही, 4/14 पर ल० वृ०
5. तेषां रसभावानां तदाभासानां च या वृत्तिः स्वाश्रयसंबंधात्मिका तस्या प्रशमे निबध्यमाने समाहितालङ्कारो भवति। वही

संबंध शांत हो जाय तो वहाँ अन्य रस भावादि का प्रवेश हो जाएगा। इसीलिए इन सब बातों का ध्यान देते हुए अन्यानुभाव शून्यता की बात की गई हैं। दूसरे रसादि के जो अनुभाव आदि हैं उनसे पूर्णतः शून्य रूप होना चाहिए। पर, जहाँ पूर्व प्रयुक्त रस आदि की वासना बड़ी दृढ़ हो उनके उपशान्त हो जाने पर भी अन्य रसादि का स्वरूपाविर्भाव न हो अथवा आविर्भूत हो भी रहा हो तो भी किसी कार्यवश तिरोहित हो जाय तो वहाँ समाहित नामक अलङ्कार होता है।[1] यथा-जहाँ अप्रधान रूप से किसी का अंग बनाकर किसी संपत्तिशील वस्तु का वर्णन किया गया हो या किसी महात्मा के चरित्र का उपस्थापन किया गया हो-पर वह काफी लम्बा वर्णनात्मक न हो।[2]

तिलक अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। उनके अनुसार रस तथा भाव जब अनौचित्य रूप से प्रवृत्त हो गए हों तो वे रसाभास तथा भावाभास कहे जाते हैं।[3] शास्त्र के विरुद्ध रसभावादियों तथा शास्त्रानुसारी रसाभास, भावाभास इत्यादियों की प्रशान्ति का निबन्धन समाहित है। वामन के अनुसार जिसका जिससे सादृश्य हो, उसमें उसी का रूप देखना समाहित है। कुंतक इसे भी अलङ्कार्य रूप होने से अलङ्कारात्मक स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं समझते। मम्मट ने उद्भट से थोड़ा अन्तर बताते हुए कहा है कि प्रशम रस का नहीं, भाव का ही मानना चाहिए और यही भाव-प्रशम जहाँ अन्य अर्थ का अंग होगा, तभी वह समाहित कहा जाएगा। उन्होंने अलङ्कार या चित्रकाव्य कहने की अपेक्षा गुणीभूत व्यंग्य मानना ही संगत बताया। रुय्यक ने भी उद्भट और ध्वनिकारानुयायियों का मतभेद दिखाते हुए यही कहा कि उद्भट भाव-प्रशम को सगाहित वहाँ कहेंगे जहाँ वह वाक्यार्थ ही प्रधान हो। जयदेव ने समाहित को अलङ्कार रूप में स्वीकार किया। विश्वनाथ ने उद्भट को अपनाते हुए 'भाव-प्रशम' को ही एक अलङ्कार माना।

भामह ने उदाहरण द्वारा समाहित को समझाया है। दण्डी ने 'दैववशात्' शब्द का प्रयोग किया है। उद्भट ने रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास के प्रशम को

---

1. यत्र पूर्वेषां रसादीनां वासनाया दाढ़र्येन तेषूपशान्तेष्वपि रसाद्यन्तराणां न स्वरूपमाविर्भवति, आविर्भवदपि वा कार्यवशेन केन चित्तिशेधीयते तत्र समाहितालङ्कारो भवति। वही
2. अथ कान्तां दृशं दृष्ट्वा विभ्रमाच्च भ्रमं भ्रुवोः।
प्रसन्नं मुखरागं च रोमाञ्चस्वेदसंकुलम्। वही, 4/15 पर वि०
3. अनौचित्यप्रवृत्ता रसभावा रसाभासभावाभासशब्दवाच्याः।
तेन शास्त्रविरुद्धानामशास्त्रविरुद्धानां वा रसभावानां या प्रशान्तिर्निबध्यते तत्परिहाररूपत्वात् समाहितम्। न च रसान्तरप्रादुर्भावोऽत्रेत्युक्तमन्यस्य रसस्यानुभावैर्निःशेषेण शून्यम। वही

समाहित बताया। इंदुराज ने उद्भट को ही स्पष्ट किया। तिलक के अनुसार रस तथा भाव जब अनौचित्य रूप से प्रवृत्त हो गए हों तो वे रसाभास तथा भावाभास कहे जाते हैं। शास्त्र के विरुद्ध रसभावादियों तथा शास्त्रानुसारी रसाभास भावाभास इत्यादियों की प्रशान्त का निबन्धन समाहित है। मम्मट ने इसे गुणीभूत व्यंग्य के अंतर्गत माना है। रुय्यक ने उद्भट और ध्वनिकारानुयायियों का मतभेद दिखाया है। विश्वनाथ ने उद्भट का ही अनुकरण किया है।

उदात्त

उदात्त का अर्थ औदार्य एवं ऐश्वर्य है। इस अलङ्कार में किसी महात्मा के चरित्र का वर्णन होता है अथवा वस्तु की समृद्धि का वर्णन होता है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति, शौर्य, विभूति, औदार्य, नगर, राजप्रसाद आदि आते हैं।[1] भामह ने उदात्त अलङ्कार का लक्षण नहीं दिया उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है– गुरु के वाक्य या आदेश का अनुरोध मानने वाले राम प्राप्त राज्य को भी छोड़कर वन को चले गये। इस उदाहरण से राम की सात्त्विक भावना और उदात्तत्व ही दिखाई देता है। भामह के अनुसार जो नाना रत्नादि से युक्त हो, वह उदात्त कहलाता है।[2] एक और उदाहरण में इन्होंने बताया है कि नन्द के क्रीडागृह में जाने पर चाणक्य को ज्ञात हुआ कि उसमें चन्द्रकान्त मणियाँ जड़ी हैं। गृह में चन्द्रकान्त मणियों के जटित होने से सम्पत्ति की समृद्धि या विभूति का महत्त्व प्रतिपादित हुआ।[3] दण्डी ने भामह के द्वारा प्रदत्त दोनों उदाहरणों को अपनाया और दोनों का नामकरण भी किया। 'आशय-महत्त्व' और 'विभूति महत्त्व, आशय महत्त्व चरित का उदात्त वर्णन तथा विभूति महत्त्व सम्पत्ति की समृद्धि का वर्णन।[4] उद्भट ने उदात्त अलङ्कार के लिए 'समृद्धियुक्त' शब्द प्रस्तुत

---

1. तत्र असंभाव्यमानभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितम् ऐश्वर्यलक्षणम् उदात्तम्। अ०स०, पृ० 207
2. नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते। का० अ०, 3/12
3. उदात्तं शक्तिमान रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
   विहायोपवनं राज्यं तथा वनमुमागमत्।।
   एतदेवापेरऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः।
   नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते।।
   चाणक्यो नक्तमुपयान्नदक्रीडागृहं यथा।
   राशिकान्तोपलच्छन्नं विवेद पयसां कणैः।। का०अ०, 11-13
4. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्वमनुत्तमम्।
   उदात्तं नाम तं प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः।। का० आ०, 2/300

किया। इनके अनुसार किसी भी वस्तु का समृद्धियुक्त वर्णन उदात्त अलङ्कार होता है साथ ही साथ किसी महात्मा का गौरव चरित जहाँ निवद्ध होता है वहाँ भी उदात्त अलङ्कार होता है।[1] इंदुराज ने उद्भट की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'रस' ही यदि वाक्य में प्रधान रूप से प्रतिपाद्य हो तो वहाँ तो रसवदलङ्कार की स्थिति हो सकती है, पर जब वह रसात्मक वर्णन किसी वर्ण्यमान प्रधानीभूत वस्तु का शोभाधायक होने के कारण अंग हो, तो वहाँ उदात्तालङ्कार की ही स्थिति माननी चाहिए। जहाँ अप्रधान रूप से किसी का अंग बनाकर किसी संपत्तिशील वस्तु का वर्णन किया गया हो, किसी महात्मा के चरित का वर्णन किया गया हो वहाँ उदात्त अलङ्कार होता है। ऋद्धि का अर्थ है-धन सम्पत्ति, उससे युक्त वस्तु को उदात्त कहते हैं यथा-जहाँ वेणु तथा हाथी से उत्पन्न मुक्ताफलों के अलङ्कार शवरियों को भी अपनी इच्छावश सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं। गंधमादन नाम का जिसका शिखर पुष्ट्य, इन्द्रनील, वैडूर्य तथा पद्मरागमय श्रृंगों से गगन से रगड़ खाता रहता है।[2] जिसकी उत्तर वाली उपत्यका उत्तम स्वर्ण की भूमि है मरकत का महान् पर्वत जिसके पैरों तले पड़ा है।[3] कल्पान्त में पृथ्वी जब पाताल को चली गई, तब भी जिसका पृथिवी के साथ पतन नहीं हुआ, उलटे और विस्तार तथा गौरव ही प्रकट हुआ।[4] इस प्रकार केवल ऋद्धिमान वस्तु का वर्णन ही उदात्त अलङ्कार नहीं होता, बल्कि अर्थ की प्राप्ति तथा अनर्थ के परिहार के लिए सनद्ध महापुरुषों की चेष्टाओं का वर्णन भी उदात्त कहा जाता है। इसी को कारिका में 'चरितं चं महात्मनाम्' द्वारा कहा गया है।[5] और इस प्रकार भी नहीं, सोचना चाहिए कि महात्माओं के चरित नियोजन से इस लक्षण में रस के अनुप्रवेश की संभवता है। अतः यहाँ रसवत् अलङ्कार का विषय बन जायेगा कारण यह है कि यही महात्मा का चरित अन्य वर्ण्यमान वस्तु का अंग है। अतः वह तो अवान्तर अंगभूत वाच्चार्थ है। यहाँ निश्चित रूप से महापुरुष का चरित प्रस्तुत वाक्य

1. उवाच च यतः क्रोडे वेणुकुञ्जरजन्मभिः।
   मुक्ताफलैरलङ्कारः शबरीणामपीच्छया।। का० सा० सं०, 4/18
2. पुष्ट्येन्द्रनीलवैडूर्यपद्मरागमयैर्वियत्।
   शिरोभिरुल्लिखद्यत्र शिखरं गंधमादनम्।। वही, 4/19
3. उत्तरोपत्यका यस्य प्रधानस्वर्णभूमयः।
   महान् मरकतोर्वीधः पादोपात्तं च संश्रितः। वही, 4/20
4. बभूव यस्य पातालपातिन्यां संक्षये क्षितौ।
   पतनं न तथा सार्धमायामस्तु प्रकट्यभूत।। वही, 4/21
5. न केवलमृद्धिमद्वस्तूदात्तं यावदर्थप्राप्तावनर्थपरिहारे चोद्यतानां विपुलाशयानां चेष्टितमपि। तदुक्तं च महात्मनाम-इति। वही, 4/21 पर ल० वृ०

का प्रधान अर्थ नहीं है, क्योंकि वह दूसरे अर्थ का अंग है।[1] जहाँ पर रस वाक्य का मुख्य अर्थ होता है, फलतः वहीं वाक्य की विश्रान्ति होती है और उससे चतुर्वग की प्राप्ति तथा उससे उसका परिहार रूप फल होता है। साथ ही इसी रूप से स्थायी का परिपोष होता है और वह आस्वाद्य होता है,[2] वही रसवदलङ्कार का व्यवहार होता है। इस तरह से प्रस्तुत उदाहरण में रसवदलङ्कार की तो गंध भी नहीं है। आदिवराह के पुनः पुनः घर्षण करने पर भी निष्कम्प स्थिर रहने वाले उस हिमालय की आप सुता हैं।[3] प्रस्तुत उदाहरण में हिमालय की स्थिरता वाक्य का प्रमुख अर्थ है त्रिलोक के उद्धारार्थ प्रस्तुत भगवान् महावराह का यह चेष्टित वीररस की प्रतीति का हेतु होकर अवान्तर वाक्यार्थ के रूप में उसका अंग ही कहा जाएगा। तिलक ने इस सम्बन्ध में कोई नवीन बात नहीं की परन्तु उद्भट के मर्म को सुतरां स्पष्ट कर दिया है। कुन्तक ने इसे भी वर्ण्य अर्थात् अलङ्कार्य के रूप में ही मान्यता दी। मम्मट के लक्षण पर उद्भट का प्रभाव है परन्तु स्वयं उद्भट भामह से प्रभावित हैं। वस्तुतः भामह ने अलङ्कार का जो स्वरूप प्रतिपादित कर दिया था, उत्तरवर्ती परम्परा उससे अलग नहीं हो सकी। उद्भट का योगदान केवल इतना ही है कि उन्होंने भामह के विवेचन को व्यवस्थित किया। टीकाकारों, विशेष रूप से प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के मन्तव्य का जो स्पष्टीकरण दिया, वही आगे आने वाली परम्परा का उपजीव्य बना।

शिलष्ट

भामह ने शिलष्ट के प्रसंग में उपमान एवं उपमेय की तादात्म्यसिद्धि पर विचार किया है। गुण, क्रिया अथवा नाम के द्वारा उपमान की उपमेय के साथ अभेद स्थापना ही श्लेष अलङ्कार है।[4] इन्होंने श्लेष के स्थान पर शिलष्ट पद का प्रयोग किया है। भामह का यह लक्षण रूपक पर भी घटित हो जाता है, परंतु शिलष्ट से रूपक का अंतर इतना ही है कि शिलष्ट में उपमान और उपमेय के गुणों का एक साथ प्रयोग

---

1. न खल्वत्र महापुरुषचेष्टितं वाक्यतात्पर्यगोचरतामनुभवति, अर्थान्तरोपलक्षणपरत्वात्। वही
2. तत्र तेषां वाक्यविश्रान्तिस्थानत्वेन चतुर्वगदितरप्राप्तिपरिहारोपायभूतस्थायिभावपरिपोषात्मना-स्वाद्यमानत्वाद्रसवदलङ्कारो भवति। वही
3. तस्यादिक्रोडपीनासनिघर्षेऽपि पुनः पुनः।
   निष्कम्पस्य स्थितवतो हिमाद्रेर्भवती सुता।। वही, 4/22
4. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
   गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च शिलष्टं तदभिधीयते।।
   लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
   इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः। का० अ०, 3/14-15

होता है जिससे उसके दोनों अर्थ एक ही शब्द से निकल जाएँ। रूपक में इस बात की आवश्यकता नहीं है। शब्द और अर्थ में श्लेष रहने से ही उसका रूपक से भेद किया जाता है।[1] श्लिष्ट में सहोक्ति, उपमा अथवा हेतु का तत्त्व विद्यमान रहता है अतएव भामह ने श्लेष के संदर्भ में तीन उदाहरण दिए हैं।[2] दण्डी ने मुख्यतः अर्थश्लेष का ही विवेचन किया था। इन्होंने एकरूप से स्थित वाक्य के द्वारा अनेकार्थ प्रतिपादन को श्लेष कहा है। इन्होंने यह सिद्ध किया कि यदि एकरूपान्वित या एकार्थवाची शब्दों के प्रयोग द्वारा ही किसी वाक्य में अनेक अर्थ निकले, तो वहाँ श्लेष होता है। यह अभिन्न पद और भिन्नपद प्रायः इन भेदों से दो प्रकार का होता है।[3]

उद्भट ने उस बन्ध को श्लिष्ट कहा जो एकप्रयत्नोच्चार्य हो अथवा एकप्रयत्नोच्चार्यता की छाया से युक्त परन्तु स्वरितादि के वैशिष्ट्य से वस्तुतः भिन्न हो।[4] इनका कथन है कि अर्थभेद से शब्दभेद होता है। राजानक तिलक भी अत्यन्त सन्नद्धतापूर्वक अर्थभेद से शब्दभेद के सिद्धान्त का आचार्य उद्भट के नाम से उल्लेख करते हैं। जिन शब्दों में दो-दो अर्थ प्रतीत होते हैं वहाँ दो अर्थों के अनुरूप दो शब्द ही होंगे जबकि उन दो शब्दों की आनुपूर्वी एक ही हो परिणामस्वरूप उन सभी के प्रयत्न व स्वरूप एक ही होने चाहिए। अतः दूसरे प्रयत्न से उच्चरित होने के कारण एक ही प्रतीत होने चाहिए एक के उच्चरित हो जाने से ही दूसरे के अनुच्चरित होने पर भी वहाँ श्लिष्ट मान लिया जाता है। दो प्रकार के पदों पर आश्रित अलङ्कारान्तरगता प्रतिभा का प्रकाशक यह सौन्दर्य अर्थ और शब्द के कारण दो प्रकार का होता है।[5] यदि एक पद के दो अर्थ हैं तो उद्भट प्रत्येक अर्थ से युक्त पद को एक अलग पद मानते हैं। यद्यपि उसमें ठीक वही उच्चारण तथा ठीक वे ही वर्ण है। जब पद रूप नितान्त समान हैं तो पद का एक बार प्रयोग होने पर दो अलग-अलग अर्थों की प्राप्ति होती है तो उसे अर्थश्लेष कहते हैं। जब स्वरित आदि के कारण पद रूपों में अन्तर होता है तो उसे शब्दश्लेष कहते हैं।

---

1. श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा। वही, 3/17
2. तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधं यथा। वही
3. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।
   तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा।। का० आ०, 2/310
4. एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
   स्वरितादिगुणैभिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते। का०सा०सं०, 4/23
5. अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः।
   द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्। वही

भामह और दण्डी ने केवल अर्थश्लेष का ही वर्णन किया जबकि उद्भट ने प्रथम बार श्लेष का वर्गीकरण अर्थश्लेष तथा शब्दश्लेष के रूप में किया है। इंदुराज उद्भट के ही कथन का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि उन शब्दों के बंध को शिलष्ट कहते हैं जो भिन्न अर्थ होने पर भी एक ही ढंग से उच्चारित होते हों, अथवा स्वरित आदि गुणों के भेदवश भिन्न होने पर ऐसा लगता हो जैसे एक ही तरह के प्रयत्न से सादृश्य सम्पन्न होने वाले वे शब्द उच्चारित होते हों। भट्टोदभट्ट का सिद्धान्त है कि अर्थभेद से शब्दभेद होता है।[1] जहाँ व्यंजन की एकता और अनेकता हो, स्वर उदात्त अनुदात्त हो, उनके ओष्ठ वा दन्तौष्ठ्य आदि भिन्न स्थान हों, प्रयत्न लघु एवं अलघु आदि हों और इन सबके कारण भिन्नार्थक शब्दों में हो तो उन शब्दों का तंत्र का उपयोग साधारण शब्दों के लिए किया जाता है।[2] इस प्रकार से जिनका तंत्र द्वारा उच्चारण संभव है वे एकप्रयत्नोच्चार्य माने जाते हैं और ऐसे ही शब्दों के बंध से अर्थ श्लेष होता है।[3] इसी को एकप्रयत्नोच्चार्याणाम् इत्यादि द्वारा व्यक्त किया गया है। जो शब्द एक प्रयत्नोच्चार्य शब्दों के समान हों उनका उपनिबंध होने से शब्द शिलष्ट होता है।[4] श्लेष दो प्रकार का होता है और ये दोनों श्लेष उपमा आदि दूसरे संभव अलङ्कारों की आभास देते हुए अपनी स्थिति प्राप्त करते हैं। आदि पद से कदाचित् इनका संकेत भामह द्वारा निर्दिष्ट सहोक्ति तथा हेतु से ही है। काव्यालङ्कारसारसंग्रह में भामह निर्दिष्ट सहोक्ति, उपमा व हेतु के अतिरिक्त रूपक तथा विरोध की प्रतिभा का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। स्वयं च पल्लवाताम्र[5] इत्यादि पद्य उपमा की प्रतिभा का, इन्दुकान्तमुखी[6] आदि रूपक की प्रतिभा का तथा अपारिजातवार्त्ता[7] में विरोध प्रतीति हेतु श्लेष है।

---

1. अर्थभेदेन तावच्छब्दाः भिद्यन्ते इति भट्टोदभटस्य सिद्धांतः। वही, 4/24 पर ल० वृ०
2. यत्र तु हलामेकत्वानेकत्वरूपत्वात् स्वराणां चोदात्तत्वानुदात्तत्वादिना स्थानानां चोष्ठ्यदन्त्योष्ठयत्वादिना प्रयत्नानां लघुत्वालघुत्वादिना भेदस्तेषां तंत्रेण प्रयोगः कर्त्तुमशक्यः साधारणरूपत्वात्तन्त्रस्य। वही
3. ये तंत्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते, ते एकप्रयत्नोच्चार्याः तद्वधेसत्यर्थ श्लेषो भवति। वही
4. ये तेषामेवैकप्रयत्नोच्चार्याणां शब्दानां छायां सादृश्यं विभ्रतितदुपनिबंधेन शब्दशिलष्टं। वही
5. स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी।
   प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धे हितप्रदा। वही, 4/25
6. इन्दुकान्तमुखी स्निग्धमहानीलशिरोरुहा।
   मुक्ताश्रीस्त्रिजगद्रत्नं पद्मरागाङ्घ्रिपल्लवा।। वही, 4/26
7. अपारिजातवार्तापि नन्दनश्रीर्भुवि स्थिता।
   अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका। वही, 4/27

वामन ने भामह के अनुसार रूपक को ध्यान में रखकर श्लेष का लक्षण बताया है इन्होंने उद्भट से 'एकप्रयत्नोच्चार्यता' तथा अर्थशब्दोक्ति विशेषताएँ भी ग्रहण कीं। श्लिष्ट का सहोक्ति, उपमा और रूपक से सम्बन्ध भामह ने स्वीकार किया था और इसी आधार पर श्लेष के तीन भेद भी उन्होंने प्रस्तुत किए थे।[1] दण्डी के मतानुसार यह प्रायः सभी वक्रोक्तिमूलक अलङ्कारों में श्रीवृद्धि करता है।[2] मम्मट ने श्लेष को अनेक अलङ्कारों का उपकारक माना। इसे ही आधार मानकर रुद्रट ने श्लेषमूलक अलङ्कार का एक वर्ग बनाया था।[3] उद्भट के अनुसार भी यह सामान्यतया अन्यान्य अलङ्कारों के साथ होता है। परन्तु ऐसे स्थानों पर वरीयता इसी की समझनी चाहिए।[4] इसका कारण यह है कि अन्य अलङ्कारों के लिए तो अन्य स्थलों पर अवसर प्राप्त है परन्तु यदि श्लेषयुक्त स्थल पर भी उन्हीं की प्रधानता हो गयी तो फिर श्लेष तो सर्वथा निरवकाश हो जाएगा। रुय्यक का कथन है कि जहाँ केवल विशेषणसाम्य हो, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार मानना चाहिए। विशेष्ययुक्त विशेषणसाम्य श्लेष का विषय है।[5] जयदेव ने इसके तीन भेद किए हैं-खण्डश्लेष, भंगश्लेष तथा अर्थश्लेष। विश्वनाथ ने मम्मट का अनुकरण किया है।[6]

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। काव्यालङ्कार में तादात्म्य सिद्धि पर बल दिया गया। दण्डी ने अनेक अर्थ वाले एकरूपान्वित वचन को श्लिष्ट कहा। उद्भट ने एकप्रयत्नोच्चार्यता पर बल दिया। उन्होंने ही अर्थभेद से शब्दश्लेष का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यह आचार्य उद्भट का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं, जो भिन्नार्थक होकर भी एक ढंग से उच्चरित होते हैं अथवा स्वरित आदि गुणों के भेदवश भिन्न होने पर ऐसा लगता हो जैसे एक ही तरह के प्रयत्न से सादृश्य सम्पन्न होने वाले वे शब्द उच्चारित होते हैं। राजानक तिलक ने भी इन्हीं दोनों बातों का उल्लेख अपनी टीका में किया है। कालान्तर में भी यह श्लेषविचार का मूल आधार बना रहा।

---

1. तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधं मतम्। का० अ०, 3/17
2. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। का०आ०, 2/313
3. अर्थस्यालङ्कारा वास्तवौपम्यातिशयः श्लेषः। का०अ०, (रू), 7/9
4. अतोनेनावकाशत्वात् स्वविषये अलङ्कारान्तराण्यपोहयन्ते तेषां विषयान्तरे सावकाशत्वात्। का० सा० सं०, 4/10 पर ल० वृ०
5. विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः। अ० स०, पृ० 95
6. शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्। सा० द०, 10/58

पंचम-वर्ग

अपह्नुति

जहाँ प्रकृत अर्थात् उपमेय का निषेध कर उस पर उपमान की स्थापना की जाय वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है। इनके अनुसार इस अलङ्कार के लिए दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं–1. इसमें औपम्य या सादृश्य अन्तर्निहित हो और दूसरी यह कि वास्तविक अर्थ का अपह्नव (छिपाव) हो।[1] यथा–यह मदमुखर भृंगावली का शब्द नहीं है, प्रत्युत चढ़ाई जाती हुई कंदर्प के धनुष की ध्वनि है।[2] दण्डी के अनुसार प्रकृत के गुणक्रियादिरूप धर्म को छिपाकर[3] धर्मान्तररूपारोप्यमाण अन्य अर्थ का कथन अपह्नुति का सामान्य रूप है।[4] दण्डी का यह लक्षण भी भामहानुसार ही है। परन्तु इसमें औपम्यधर्मता का उल्लेख नहीं है। भामह ने एक और बात भी कही थी। उनके अनुसार इस अलङ्कार का नाम अपह्नुति इसलिए है कि इसमें भूतार्थ का अपह्नव किया जाता है। इन्होंने अपह्नुति के दो भेद बताए हैं–विषयापह्नुति तथा स्वरूपापह्नुति। विषयापह्नुति में वर्ण्य निषेध्य तथा आरोप्य का वर्णन होता है। यथा–चन्दन आदि विरहिणी के लिए अग्निमय है, साथ ही अन्य जनों के लिए शीतल भी है।[5] स्वरूपापह्नुति में धर्म का निषेध करके धर्मान्तर[6] का आरोप होता है। इन्होंने उपमापह्नुति की चर्चा करते हुए इसे उपमा के दो भेदों से बीसवाँ भेद प्रतिषेधोपमा है। यथा–चन्द्रमा में तुम्हारे मुख से प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि वह कलङ्की और जड़। (शीतल, मूढ़) है, यहाँ (उपमान चन्द्रमा के उपमानत्व का प्रतिषेध होने के कारण) प्रतिषेधोपमा है।[7]

परन्तु उद्भट ने तो भामह की पूरी तरह से अनुकरण किया है केवल कुछ पदों

---

1. अपह्नुतिरभीष्या च किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा।। का० अ०, 3/21
2. नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः।। वही, 3/22
3. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्। का० आ०, 2/304
4. न पञ्चेषुः स्मरतस्य सहस्रं पत्रिणामिति। वही
5. चन्दनं चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च दक्षिणः।
सेयमग्निमयी सृष्टिर्मयी शीता परान् प्रति। वही, 2/305
6. रविचन्द्रत्वमेवेन्दौ निवर्त्यार्थान्तरात्मता। वही, 2/307
7. न जातु शक्तिरिनदोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम्।
कलंकिनो जऽस्येति प्रतिषेधोपमैव सा।। का० आ०, 2/34

का ही परिवर्तन किया है, अर्थ और भाव का नहीं। इस अलङ्कार में उपमा अथवा सादृश्य अन्तर्निहित रहता है। अतः अपह्नुति का आधार उपमानोपमेयभाव है।[1] उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज का कथन है कि इस अलङ्कार में अल्पमात्रा में उपमा रहती है। विद्वानों ने प्राकरणिक अर्थ का अपह्नव (छिपाकर) कर उपमान के आरोप से उपमानोपमेय भाव शोभित होता है।[2] उदाहरण–चन्द्रमा की कला की भाँति कोमल लोगों के लिए तप, तप नहीं हलाहल विष है।[3] इस उदाहरण में उपमेय तप और उसके स्वरूप का अपह्नव कर उस पर हलाहल विशेष के समारोप द्वारा दोनों के उपमानोपमेयभाव की भी अवगति करायी गई है।[4] वह हलाहल विष के साथ सादृश्य बहुत स्फुट इसलिए नहीं है कि उपमेय अपह्नुत या निषिद्ध है। हलाहल एक प्रकार का विष है।

तिलक ने भी अपह्नुति के इन्हीं दोनों तत्वों का निरूपण किया है। इसमें औपम्य धर्म अन्तर्निहित रहता है।[5] तथा वास्तविक अर्थ को छुपाकर उपमा का आश्रयण करते हुए ही अवास्तविक अर्थ को आरोपित किया जाता है।[6] वामन ने तो सभी अलङ्कारों के मूल में औपम्य तत्त्व को स्वीकार किया है। अलङ्कार के लक्षणप्रसंग में उन्होंने अन्यापलाप की बात को स्थान दिया। उनके अनुसार समान वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु के अपलाप (निषेघ) में अपह्नुति होती है।[7] रुद्रट पर भामह और उद्भट का प्रभाव है।[8] मम्मट पर भी भामह, और उद्भट और रुद्रट का प्रभाव दिखाई देता है। मम्मट अपह्नुति के दो प्रकार बताये हैं–शाब्दी एवं आर्थी। जहाँ शब्द द्वारा उपमेय को

---

1. अपह्नुतिरभीष्ट्या च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवेनास्या निबन्धः क्रियते बुधैः।। का० सा० सं०, 5/3
2. अत्र च प्राकरणिकस्य विद्यमानस्यार्थस्या यद्विद्यमानोस्फुटेन रूपेण उपमानोपमेय-भावश्चकास्तीत्युक्तम्। वही, 5/3 पर ल० वृ०
3. एतद्धि न तपः सत्यमिदं हालाहलं विषम्।
विशेषतः शशिकलाकोमलानां भवादृशाम्।। वही, 5/4
4. अत्र प्राकरणिकस्य तपसः स्वरूपमपह्नुत्य हालाहलविषविशेषरूपताध्यारोपेण तत्सादृश्यमवगमितम्। वही, 5/4 पर ल० वृ०
5. अन्तःकृतोपमा अपह्नुतिः। वही, 5/3 पर वि०
6. न तु रूपकादिरूपेत्याह–भूतेति। वही
7. समेनवस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः। का० सू० वृ०, 4, 3, 5
8. अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुति सेयम्। का० अ०, (रू), 8/57

असत्यता सिद्ध कर दी जाय वहाँ शाब्दी एवं अर्थ द्वारा प्रतीयमान अपह्नुति आर्थी कहलाती है। रुय्यक भी उपमेय को छिपाने में अपह्नुति मानते हैं।[1] इन्होंने इस अलङ्कार के तीन रूप बताये हैं– अपह्नवपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वक अपह्नव तथा हल आदि शब्दों के प्रयोग से अपह्नवनिर्देश। दण्डी ने इसके दो भेद बताए विषयापह्नुति तथा स्वरूपापह्नुति। जयदेव ने अतथ्य का आरोप करने के लिए तथ्य के निषेध को अपह्नुति के रूप में विवेचित[2] कर पर्यस्तापह्नुति, भ्रातापह्नुति, छेकापह्नुति, कैतवापह्नुति इन चार भेदों का निरूपण किया है। विश्वनाथ ने मम्मट के आधार पर लक्षण किया है और वृत्ति रुय्यक के अनुसार लिखी है।[3]

अप्पयदीक्षित ने शुद्धापह्नुति तथा हेत्वापह्नुति की चर्चा की है। पंडितराज जगन्नाथ ने इस सारे विवेचन का उपसंहार कर दिया। रसगंगाधर में उपमेय का निषेध कर उपमान के साथ उसके अभेद कथन को अपह्नुति अलङ्कार माना गया है।[4] अस्तु।

अपह्नुति का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। दण्डी ने उपमातत्त्व की उपेक्षा कर दी परन्तु अन्य आचार्यों ने भामह का अनुसरण किया। उद्भट पर भामह का प्रभाव दिखाई पड़ता है। केवल एकाध पदों के परिवर्त्तन के साथ उन्होंने उसी लक्षण को स्वीकार किया। टीकाकारों ने भामह और उद्भट के मर्म को सुतरां स्पष्ट किया है। पूरी परम्परा पर अब आचार्य भामह की उपजीव्यता सुतरां स्पष्ट है। उद्भट पर भी उनके दोनों टीकाकारों ने इन्हीं की स्थापनाओं को विशद रूप में प्रस्तुत किया है।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति का अर्थ है विशेष प्रकार की उक्ति।[5] जब किसी वस्तु का एक भाग या एक गुण की हानि हो जाए तब उसकी विशेषता को बढ़ाने के लिए और सारे

---

1. विषयापह्नवेऽपह्नुति। अ० स०, पृ० 45
2. अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापस्तिरपह्नुतिः। च० आ०, 5/24
3. प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति। सा० द०, 10/39
   गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथंचन।
   यदि श्लेषेणाऽन्यथा वान्यथयेत्साऽपह्नुतिः। वही
   अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः। वही
4. उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामान्याधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुतिः।
   र० गं०, पृ० 366
5. कश्चिद् विशेषमभिव्यङ्क्तुं प्रयुज्यमाना उक्तिः विशेषोक्तिः। अ०स०, पृ० 142

गुणों का वर्णन किया जाए तो वहाँ विशेषोक्ति होता है।[1] जैसे कुसुमायुध अकेले तीनों लोक को परास्त कर देता है। शंभु ने उसका शरीर तो नष्ट कर दिया पर बल या शक्ति का नाश नहीं किया। यहाँ कामदेव का शरीर तो नष्ट हुआ वर्णन किया गया है, पर शक्ति जैसे अन्य गुण की स्थिति कही है। काम का लोकविजयी होना समर्थित किया गया है। कामगत इस विशेष की उक्ति होने से इसे विशेषोक्ति कहा गया है।[2] भामह का यह लक्षण उसके स्वरूप का विशद व्याख्यान है। परन्तु जिस स्पष्टता के साथ आगे जाकर इस अलङ्कार का स्वरूप स्थिर हुआ वह भामह के इन शब्दों से स्पष्ट नहीं हो पाता यद्यपि उसका बीज इस लक्षण में अन्तर्निहित है। दण्डी ने इसी बात को प्रकारान्तर से करने का प्रयास किया। उनके अनुसार जब किसी वस्तु की विशेषता को दिखाने के लिए गुण, जाति, क्रिया आदि के अभाव का वर्णन किया जाता है तब वहाँ विशेषोक्ति होता है।[3] भामह और दण्डी के बाद उद्भट ने विशेषोक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा कि जब समस्त[4] कारणों के होने पर भी जब कार्य की उत्पत्ति का अभाव हो तो अलंकार होता है। वस्तुतः इस लक्षणवाक्य के आ जाने पर ही इस अलङ्कार का स्वरूप निर्धारित हो सका। उद्भट का प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर पड़ा। टीकाकार इन्दुराज के अनुसार जब कुछ विशेष कहने की इच्छा से जहाँ एक ओर शक्ति का कारण की समग्रता भी कही जाए और दूसरी ओर फल की उत्पत्ति का अभाव हो तो विशेषोक्ति होता है। इन्होंने विशेषोक्ति का लक्ष्य ग्रंथों में अत्यन्त ललित बंध दो प्रकार से देखा है– निमित्त कहकर और न कहते हुए। दूसरे भेद का उदाहरण इस प्रकार है– अत्यन्त समृद्ध घर में तुम्हारा जन्म हुआ है, रूप है, स्मर का सुहृदय यौवन अवस्था और फिर भी सुख की प्राप्ति नहीं है-तो भला किसकी बुद्धि (होगी जो इन असंगतियों को सोचकर) चकित न होगी।[5] प्रस्तुत उदाहरण में धन

---

1. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा।। का० अ०, 3/23
2. स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्।। वही, 3/24
3. गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते।। का०आ०, 2/323
4. यत्सामग्रयेपि शक्तीनां, फलानुत्पत्ति बन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातः, तद्विशेषोक्तिरुच्यते।। का० सा० सं०, 5/5
5. महर्द्धिनि गृहे जन्म रूपं स्मरसुहृद्वयः।
तथापि न सुखप्राप्तिः कस्य चित्रीयते न धीः।। वही, 5/7

संभार का योग, सुन्दर रूप तथा यौवन जैसे जितने सुख प्राप्ति का अभाव है।[1] यह सब इसलिए कहा गया है ताकि विस्मय प्रकाशन की बात बन सके। यहाँ निमित्त है-विधि की विमुखता, जो शब्दतः कही नहीं गई है फिर भी अर्थसामर्थ्यवश उसकी प्रतीति हो जाती है[2] रूप शब्द यहाँ रूप प्रकर्ष परक है, क्योंकि सामान्यतः रूप तो शरीर मात्र के साथ संबद्ध है, फिर जिस अर्थ का ज्ञान यों ही हो जाता है उसी की विशेष रूप से स्पष्टता के लिए 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है।[3] स्मर का सुहृद होनेवाली अवस्था यौवन ही है।[4] कारण यह है कि यौवन ही में मन्मथ उन्मुख होता है। इस समस्त शक्ति-सम्भार के होने पर भी सुख की प्राप्तिरूप कार्य का न हो पाना यहाँ उक्ति के वैशिष्ट्य का आधायक है। आद्यभेद का उदाहरण इस प्रकार है-

इस प्रकार के तुम्हारे ऊबड़-खाबड़ एवं विसंगत चेष्टित को देखकर यद्यपि मैं कुछ पूछने के लिए त्वराशील हूँ फिर भी बात मुँह से निकलती नहीं है।[5] प्रस्तुत उदाहरण में प्रश्नविषयक त्वरा (शीलता) रूप कारण के रहने पर भी प्रश्न वचन की अनुत्पत्ति कही गई है। इससे प्रश्न रूपी उक्ति कारण जो विस्मय प्रकाशन रूप विशेषता है- यह स्पष्ट हो रही है। निमित्त है- भगवती गत विसंगत क्रिया कलाप का दर्शन। यह शब्दतः उपात्त भी है। परन्तु इस अलङ्कार को सर्वप्रथम सर्वाधिक स्पष्टता के साथ कहने का श्रेय राजानक तिलक को जाता है। उन्होंने सर्वप्रथम स्पष्टता के साथ कारण एवं कार्य शब्दों का प्रयोग किया। इनका कथन है कि फूल को प्राप्त करवाने के लिए कारण सामग्री के अविकल्प रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति है।[6] इसी लक्षण को मम्मट विश्वनाथ आदि उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने केवल शब्दों के परिवर्त्तन के साथ पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया बल्कि इसके जो दो भेद राजानक तिलक ने किये[7] उनका बीज काव्यालङ्कारसारसंग्रह में ही था। उन्हें मम्मट

---

1. धनसंभारयोगः सुरूपत्वं यौवनं चेति यान्येतानि सुखप्राप्तौ कारणान्यविकलानि तत्सद्भावेऽपि क्रियाफलभूतायाः सुखप्राप्तेरनुत्पत्तिरूपनिबद्धा। वही, 5/7 पर ल० वृ०
2. अत्र च निमित्तं स्वकण्ठेनानुपात्तमप्यर्थसामर्थ्यादवगम्यते विधिवैधुर्यादि। वही
3. रूपशब्दोऽत्र शरीरस्य रूपमात्राव्यभिचारित्वात् रूपप्रकर्षतात्पर्येणोपात्तः। वही
4. स्मरसुहृद्वयो यौवनम्। वही
5. इत्थं विसंष्ठुलं दृष्ट्वा तावकीनं विचेष्टितम्।
   नोदेति किमपि प्रष्टुं सत्वरस्यापि मे वचः।। वही, 5/8
6. कंचित् विशेषमवगमयितुं कारणानामविकलत्वेऽपि कार्यस्यानुत्पत्तिर्बध्यते सा विशेषोक्तिः। वही, 5/6 पर वि०
7. तत्र निमित्तं कदाचिदुक्तम्। कदाचिदनुक्तमेव। वही

विश्वनाथ आदि ने पूर्ण सम्मान दिया। मम्मट ने इसके एक तृतीय भेद अचिन्त्यनिमित्ता को भी अवश्य माना। वामन के अनुसार एक गुण की न्यूनता की कल्पना[1] करने पर शेष गुणों का जो साम्य है उसकी दृढ़ता में विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। भोजराज ने दण्डी का अनुकरण किया। रुय्यक पर भी उद्भट और मम्मट का प्रभाव है। केवल भेद निरूपण के प्रसंग में अनुक्त निमित्ता दो भेद किए चिन्त्य तथा अचिन्त्य। जयदेव ने सामान्य लक्षण किया है,[5] भेदों का वर्णन नहीं किया है। विश्वनाथ पर रूय्ययक का प्रभाव है। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में इसका लक्षण इस प्रकार किया है।[2] जगन्नाथ के अनुसार प्रसिद्ध कारणों के होन पर भी कार्य का न होना विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।[3] अस्तु।

अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इन्होंने किसी वस्तु के एक गुण नष्ट होने पर उस वस्तु की विशेषता के लिए और सारे गुणों की अवस्थिति को स्वीकार किया। दण्डी ने इस सन्दर्भ में गुण, जाति, क्रिया आदि का वर्णन किया। उद्भट ने एक स्पष्ट और अर्थपूर्ण लक्षण दिया है जिसे उनके टीकाकारों के साथ परवर्ती आचार्यों ने भी आत्मसात किया है। इनके अनुसार समस्त कारणों के रहने पर भी जब फलोत्पत्ति का अभाव होता है तो विशेषोक्ति होता है। इंदुराज ने भी उद्भट के अनुसार ही इसका निरूपण किया है बल्कि उद्भट के विवेचन को कुछ और विशदता प्रदान की है। कारण की समग्रता के बावजूद कुछ विशिष्टता का प्रदर्शन करने के लिए कार्यफल का अभाव होने पर इस अलङ्कार की स्थिति होती है। परन्तु सारी परम्परा पर तिलक की उत्तमर्णता सिद्ध है।

विरोध

भामह के अनुसार किसी विशेषता प्रदर्शित करने के लिए गुण या क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का वर्णन किया जाय तो वहाँ विरोध अलङ्कार होता है।[5] भामह ने गुण एवं क्रिया तथा क्रिया और गुण के विरोध को ही अलङ्कार माना तथा इसका उद्देश्य किसी विशिष्टता का प्रदर्शन करने के लिए होता है, ऐसा प्रतिपादित किया।

1. एकगुणहानि-कल्पनायां साम्यादादर्थ्य विशेषोक्तिः। का० सू० वृ०, 4/3/23
2. विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे। च० आ०, 5/78
3. कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे। कु० आ०, 83
4. प्रसिद्धकारणकलापसमानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिः विशेषोक्तिः। र०ग०, पृ० 585.
5. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
   या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्यथा। का० अ०, 3/25

तद्यथा सीमान्त में फैले हुए उपवनों की छाया से शीतल भी वह भूमि दूर स्थित भी तुम्हारे शत्रुओं को संतृप्त करती है।[1] अर्थात् वाटिका की छाया से शीतल प्रदेश द्वारा शत्रुओं के तापन में विरोध स्पष्ट है। दण्डी ने गुण व क्रिया को हटाकर पदार्थ सामान्य की चर्चा की। उनके अनुसार जब किसी विशिष्टता का प्रदर्शन करने के लिए विरोधी पदार्थों का संसर्ग-दर्शन हो वहाँ विरोध अलङ्कार होता है।[2] उद्भट ने दण्डी के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भामह के लक्षण को लेकर उसमें थोड़ा शब्द परिवर्तन कर दिया है।[3] इनके टीकाकार इंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जहाँ कवि के द्वारा किसी विशिष्टता को स्पष्ट करने के लिए गुण, क्रिया एवं द्रव्य के विपरीत सजातीय या विजातीय पदार्थ का वर्णन किया जाय तो वहाँ इस अलङ्कार की स्थिति होती है। जहाँ कवि के द्वारा गुण एवं क्रिया के, अथवा 'वा' शब्द के दूसरी बार प्रयोग से संकेत लेकर द्रव्य को भी ले लिया जाय तो उस द्रव्य के भी विरुद्ध अन्य सजातीय या विजातीय पदार्थ की विशिष्टता के प्रदर्शन से, कवि की प्रतिभा प्रसूत विरुद्ध वर्णन से जो वैशिष्ट्य का अभिधान होता है, वहाँ विरोध नामक अलङ्कार होता है। क्रियावचः का अर्थ है-कवि कल्पित पदार्थ का कथन।[4] निश्चय ही कवि की प्रतिभा से पुराण प्रजापति द्वारा निर्मित शुष्क एवं परूष पदार्थ की अपेक्षा सरस पदार्थ सर्वथा नवीन कर दिए जाते हैं।[5] अतएव आचार्य मम्मट ने कविकृति को प्रजापति की कृति से उत्कृष्ट बताया था।[6] उदाहरण-अथवा क्या करूँ या विस्मय ही मुझे वाचाल कर रहा है। भला कहाँ आपका यह आकार और कहाँ तपस्या का वह पाटव?[7] प्रस्तुत उदाहरण में भगवती के समान आकृति की सुकुमारता से कठिन

---

1. उपान्तरूढोपवनच्छायाशीतापि भूरसौ।
विदूरदेशानपि वः सन्तापयति विद्विषः।। वही, 3/26
2. विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा। का० आ०, 2/333
3. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रिया वचः।
यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते।। का० सा सं०, 5/9
4. क्रियाकारणमुत्पादनं तत्प्रधानं वचः। वही, 5/9 पर ल० वृ०
5. कविप्रतिभाया खलु पुराणप्रजापतिनिर्मितशुष्कपुरुषपदार्थविलासणाः सरसाः पदार्थाः अभिनवा एव निर्मीयन्ते। वही
6. नियतिकृतनियमरहिताम् हलादैकमथीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरूचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति। का० प्र०, 1/1
7. यद्वा मां कि करोम्येष वाचालयति विस्मयः।
भवत्याः क्वायमाकारः क्वेदं तपसि पाटवम्।। का० सा० सं०, 5/10

कायसाध्य तपस्या की पटुता का विरोध स्पष्ट किया गया है।[1] इस तरह के वर्णन से विस्मय का विभावन रूप वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया गया है। यहाँ विरोध सिद्ध धर्म (गुण) गत होने के कारण गुण विरोध कहा जाएगा।[2]

राजानक तिलक ने इस संदर्भ में जाति और द्रव्य को भी ग्रहण किया है, तथा विरोध के दश प्रकारों को प्रदर्शित किया है।[3] तद्यथा (1) जाति का जाति से विरोध जैसे क्व नरः क्व हरिः। (2) जाति का गुण से विरोध यथा-सिंहोऽपि दीनः स्मरतः। (3) जाति का क्रिया से विरोध यथा- सिंहोऽपि परिभूतः। (4) जाति का द्रव्य से विरोध-जैसे वासुदेवोऽपि मत्स्यः। (5) गुण का गुण से विरोध इसका उदाहरण वही है जो उद्भट ने विरोध सामान्य का उदाहरण दिया है। (6) गुण का क्रिया से विरोध यथा-शीतलोऽपि दहति। (7) गुण का द्रव्य से विरोध यथा-चन्द्रोऽप्य शीतलः। (8) क्रिया का क्रिया से विरोध यथा जडयति च सन्तापयति च। (9) क्रिया का द्रव्य से विरोध। यथा-चन्द्रोऽपि दहति। (10) द्रव्य का द्रव्य से विरोध यथा-क्व म्लेच्छभूः क्व सुरसिन्धुरमोघवृष्टिः। वामन ने सर्वप्रथम इसका स्वरूप आभास के रूप में निश्चित किया। उनके अनुसार विरुद्ध न होते हुए भी विरुद्ध अर्थ के समान प्रतीत होना विरुद्धाभासता है।[4] रुद्रट के अनुसार परस्पर विरुद्ध द्रव्य-गुण-क्रिया जाति का एकत्र समकाल में अवस्थान विरोध है।[5] इन्होंने द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रिया के सजातीय एवं विजातीय आधार पर तेरह भेदों का वर्णन किया है। मम्मट ने इसके स्वरूप को वामन से ग्रहण करके और प्राचीन नाम 'विरोध' का ही प्रयोग किया। भेद निरूपण में ये आचार्य तिलक अधमर्ण है। वस्तुतः विरोध अलङ्कार के भेद निरूपण में तिलक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। मम्मट ने दो पदार्थों में परस्पर वास्तविक विरोध का वर्णन किया तो वहाँ विरोधालङ्कार कहेंगे।[6] रुय्यक ने विरोध का विस्तृत

---

1. अत्राकृतेः सुकुमारायाः पाटवस्य च कठिनकायसाध्यस्य विरोधो भगवतीनिष्ठत्वेनोपनिबद्धः। वही
2. द्रव्यविरोधो गुणक्रियाविरोधे गुणद्रव्यविरोधे क्रियाद्रव्यविरोधे च। वही 5/10 पर ल० वृ०
3. वही, 5/9-10 पर वि०
4. विरुद्धाभासत्वं विरोधः
   अर्थस्य विरुद्धस्येवाभासत्वं विरुद्धाभासत्वं विरोधः। का० सू० वृ०, 4/3/12
5. यस्मिन्द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम् एकत्रावस्थानं
   समकालं भवति स विरोधः।। का० अ०, 9/30
   स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम्।
   अन्यवाक्यं गमयेदविरुद्धं सद्विरुद्धमिव।। वही, 10/22
6. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरूद्धत्वेन यद्वचः।
   वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः। का० प्र०, 10/110

विवेचन किया है। इनके लक्षण पर वामन का तथा भेद विवेक पर तिलक का प्रभाव है।[1] विश्वनाथ पर मम्मट का प्रभाव है।[2] अप्पयदीक्षित ने विरोध का सामान्य स्वरूप प्रस्तुत किया है जहाँ वास्तविक विरोध न होकर विरोध का आभास मात्र दिखाई दे वहाँ विरोध अलङ्कार होता है।[3]

विरोध अलङ्कार का सर्वप्रथम उल्लेख भामह के काव्यालङ्कार में उपलब्ध होता है। उद्भट ने किंचित शब्द परिवर्त्तन के साथ उसे ही स्वीकार कर लिया। तिलक ने इसके दश भेदों को स्थिर कर दिया। मम्मट आदि पर इन आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट है। केवल वामन ने विरुद्धाभास के रूप में जो इसका स्वरूप स्थिर किया था उसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने अधिक मान्यता प्रदान की। इस दृष्टि से भामह पुराने पड़ गए, परन्तु टीकाकार तिलक ने जो इसके दश भेद निरूपित किए थे वे उत्तर परम्परा में रुय्यक और मम्मट जैसे आचार्यों के द्वारा पसन्द किए गए। जयदेव आदि ने विरोध तथा विरोधाभास को दो भिन्न अलङ्कार मानने की बात कही थी परन्तु उनकी स्थापना इस प्रवाह को रोक नहीं पायी। राजानक तिलक फिर भी पूरी चिन्तन परम्परा के केन्द्र में स्थित हैं।

तुल्ययोगिता

भामह का कथन है कि गुण की समानता बताने की इच्छा से विशिष्ट के साथ न्यून के समान कार्य एवं क्रिया का योग तुल्ययोगिता अलङ्कार कहलाता है।[4] उदाहरण में अप्रस्तुत शेष और हिमालय प्रस्तुत राजा के साथ महत्त्व, गुरुत्व और स्थिरत्व गुण प्रतिपादित करने के लिए चञ्चल पृथ्वी के धारण रूपी एक कार्य से सम्बद्ध है।[5] भामह इस उदाहरण के द्वारा पर्वत तथा राजा में गुणसाम्य के प्रतिपादन को इस अलङ्कार के बीज के रूप में उपस्थित करना चाहते हैं। जबकि दण्डी के अनुसार इसका प्राण प्रस्तुत की स्तुति अथवा निन्दा का प्रतिपादन है। दण्डी के अनुसार स्तुति अथवा निन्दा के निमित्त प्रस्तुत के गुणों का उत्कृष्ट गुणों के साथ किया गया वर्णन

---

1. विरुद्धाभासत्वं विरोधः...तदेवं दश विरोधभेदाः। अ०स०, पृ० 121
2. विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः। सा०द०, 10/69
3. आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते। कु० आ०, 76
4. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
   तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता।। का० अ०, 3/27
5. शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
   यदलङ्धितमर्यादाश्चलन्तीं विभृथ क्षितिम्।। वही, 3/28

ही तुल्ययोगिता बतलाया है।[1] भामह एवं दण्डी के उत्तराधिकारी उद्भट ने इसका और अधिक विशदता के साथ वर्णन किया है। इनके अनुसार उपमान एवं उपमेय की उक्ति से रहित (शून्य) तथा अप्रस्तुतों एवं प्रस्तुतों का साम्याभिधायी कथन ही तुल्ययोगिता अलङ्कार है।[2] स्पष्टत: ही यह लक्षण भामह से प्रभावित है परन्तु अभिव्यक्ति उद्भट की अपनी है। अप्रस्तुतों के साम्याभिधान का उदाहरण तुम्हारे अंगों की मृदुता को देखने वाले किस व्यक्ति के चित्र में, मालती, चंद्रकला तथा कदली की कठोरता न भासित होगी।[3] टीकाकार प्रतीहारेंदुराज ने उद्भट अभिप्राय को ही वैशद्य प्रदान किया। उपर्युक्त उदाहरण में जो शरीर के सौकुमार्य की चर्चा की गयी है उसमें मालती आदि अप्रकारणिक अर्थों का एक ही धर्म है–कठोरता। दूसरे भेद का उदाहरण जरा बताओ तो सही कि यह योगपट्ट जटाजाल, वृक्ष की छाल तथा मृगचर्म क्या ये तुम्हारे अंगों के लिए उचित है?[4] प्रस्तुत उदाहरण में योगपट्ट आदि अप्राकरणिक है, जिनका भगवती के शरीर से संस्पर्श अनौचित्यपूर्ण है। यही अनौचित्य समान धर्म है, जिसका सभी अप्राकृतों से संबंध है। तिलक ने दोनों ही उदाहरण के मूल में औपम्यभाव की ओर अवश्य संकेत किया है।[5] वामन ने भामह का अनुकरण किया है विशिष्ट के साथ न्यून के साम्य के लिए एक काल अथवा क्रिया से योग तुल्ययोगिता है।[6] मम्मट पर भी उद्भट का प्रभाव है। जहाँ केवल अप्राकरणिकों का या केवल प्राकरणिकों का समानधर्म एक ही बार उपात्त है वहाँ तुल्ययोगिता होती है।[7] इनके टीकाकारों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए यह कहा है कि एक धर्म का संबंध जहाँ अनेक (प्राकरणिक या अप्राकरणिक) से हो, वहाँ तुल्ययोगिता होती है। दीपक और तुल्ययोगिता का भेदक आधार भी यही है। तुल्ययोगिता में जहाँ केवल प्राकरणिक

---

1. विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत्समीकृत्य कस्यचित्।
   कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता।। का०आ०, 2/330
2. उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।
   साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता। का० सा० सं०, 5/11
3. त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
   मालती शशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता।। वही, 5/12
4. योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वङ् मृगाजिनम्।
   उचितानि तवाङ्गस्य यद्यमूनि तदुच्यताम्।। वही, 5/13
5. उपमा तूभयत्राप्यन्तर्गता। वही, 5/13 पर वि०
6. विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता। का० सू० वृ० 4/3/26
7. तुल्यश्चासौ योगः संबंधश्च अन्वयश्च तुल्ययोगः एकधर्मान्वयः इत्यर्थः सोऽस्ति येषां ते तुल्योगिनः तेषां भावस्तुल्ययोगिता। का० प्र, 157

अथवा अप्राकरणिक अर्थों का उल्लेख होता है। रुय्यक का लक्षण मम्मट के अनुसार है–साथ ही 'औपम्यस्य गम्यत्वे' पर विशेष आग्रह किया है जो कि वस्तुतः भामह का प्रभाव है।[1] विश्वनाथ ने केवल प्रस्तुतों अथवा केवल अप्रस्तुतों के एक धर्म से सम्बन्ध को तुल्ययोगिता कहा है।[2] अप्पयदीक्षित ने इसके तीन भेद बताए हैं। इनका पहला भेद परम्परा में स्वीकृत था,[3] द्वितीय भेद सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार है।[4] तृतीय भेद काव्यादर्श के अनुसार है।[5]

तुल्ययोगिता अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इनका कथन है कि गुणसाम्य की विवक्षा से उपमानोपमान का एक कार्य अथवा क्रिया से योग तुल्ययोगिता है। दण्डी ने गुणसाम्य के स्थान पर निन्दा स्तुति पर जोर दिया जो किसी न किसी रूप में अन्त तक ग्रहण किया जाता रहा। विशेष रूप से राजानक तिलक ने इसे स्थापित किया। हाँ मम्मट के बाद लक्षण में सरलता तथा स्पष्टता अवश्य आ गई।

अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति ही अप्रस्तुतप्रशंसा है। भामह ने इसके विशेषण के रूप प्रस्तुतार्थनिबन्धन पर भी जोर दिया है।[6] उद्भट ने भामह के ही लक्षण को यथावत् ग्रहण कर लिया। इंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि अप्रस्तुत प्रशंसा यदि प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी न होगी तो वह उन्मत्त-प्रलाप बन जाएगी।[7] इनका कथन है कि जहाँ किसी प्रस्तुत अर्थ से संबंध रखने वाले अनधिकृत दूसरे वस्तु का वर्णन किया जाय वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है। यथा–वन जैसे दुर्गम देश की यह शोभा, यद्यपि फल एवं पुष्प की संपत्ति से संपन्न है, फिर भी उपभोक्ता के न मिलने

---

1. औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता। अ० स०, पृ० 89
2. पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
   एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।। सा० द०, 10/48
3. वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्योगिता। कु० आ०, 44
4. हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता। स०क०, 46
5. गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता। कु० आ, 47
6. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
   अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा।। का० अ०, 2/29
7. न चैवमपि तस्या उन्मत्तप्रलापप्रख्यता यतः सा केनचित्स्वाजन्येन प्रस्तुतमर्थमनुबध्नाति। तदुक्तं प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी इति। का० सा० सं०, 5/14 पर ल० वृ०

से अपने में ही जरा जीर्ण हो जाती है।[1] प्रस्तुत उदाहरण में यह वर्णन किया गया है कि कठिनाई से जहाँ प्रवेश हो सकता है उस देशगत जंगलों की शोभा अप्राकरणिक है।[2] उसका अपने शरीर में ही जराजीर्ण हो जाना प्राप्त है। और उस शोभा के साथ सादृश्य संबंधवश भगवती की चेष्टाएँ ही उपमेय[3] के रूप में इस प्रकार प्रतीत होती है।

राजानक तिलक ने इस संदर्भ में अप्रस्तुतप्रशंसा तथा पर्यायोक्त अलङ्कारों में विवेक भी प्रस्तुत किया है। जब भङ्ग्यन्तर से कथन किया जाए तब पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। वहाँ कथनप्रकार महत्त्वपूर्ण है जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में गम्यमान अर्थ का महत्त्व है।[4] यहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा प्रस्तुत अर्थ का निबन्धन करने वाली होती है। वामन ने उपमेय की किंचिदुक्ति (एकदेश उक्ति) में अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार कहा है।[5] रुद्रट ने इसे अन्योक्ति शब्द से कहा है-विशेषणों के समान न रहते हुए भी इतिवृत मात्र की समानतावश जहाँ उपमान द्वारा अनुक्त उपमेय का बोध हो जाय वहाँ अन्योक्ति होता है।[6] कुंतक के अनुसार जहाँ आधार लेकर प्रस्तुत के सौंदर्य को प्रकाशित करने वाला अप्रस्तुत परक वर्णन किया गया हो तो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा होता है।[7] ये सब लक्षण इसी सरणि में हैं।

मम्मट पर उद्भट का प्रभाव है। परन्तु इन्होंने विस्तृत विवेचन किया है। इनके अनुसार अप्राकरणिक अर्थ के कहने से जहाँ प्रस्तुत अर्थ की व्यंजना हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार होता है।[8] इन्होंने इसके पाँच भेद भी बताए हैं। (1) कार्य के प्रस्तुत

---

1. यान्ति स्वदेहेषु जरामसप्राप्तोपयोक्तृकाः।
   फलपुष्पर्द्धिभाजोऽपि दुर्गदेशवनश्रियः।। वही, 5/15
2. यस्मिन् देशे तद्गतकाननानां शोभाः अप्राकरणिक्य एव स्वदेहजर्जरतयोपवर्णिताः। वही, 5/15 पर ल० वृ०
3. ताभिश्च सादृश्यस्वाजन्येन भगवतीचेष्टितमुपमेयभूतं एवंविधरूपतयावगम्यते। वही
4. इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधीयते तदा पर्यायोक्तता। अत्र हि गम्यमानोऽर्थोऽभिहितः। यथा तु गम्यते न तथाऽभिधीयते। का०सा०सं० 5/15 पर वि०
5. किंचिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा। का० सू० वृ०, 4/3/4
6. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
   उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति सान्योक्तिः। का० अ० (रू), 8/74.
7. अप्रस्तुतोऽपि विच्छत्ति प्रस्तुतस्यावतारयन्।
   यत्र तत्साम्यमाश्रित्य संबन्धान्तरमेव वा।। व०जी०, पृ० 188
8. अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।
   कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
   तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पंचधा।। का० प्र०, 10/99

होने पर कारण का कथन, (2) कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य का कथन, (3) सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष का कथन, (4) विशेष के प्रस्तुत होने पर सामान्य का कथन, (5) तुल्य के प्रस्तुत होने पर उससे भिन्न दूसरे तुल्य का कथन।

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इन्होंने अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति को अप्रस्तुतप्रशंसा कहा है। दण्डी ने इस लक्षण में 'स्तुति निन्दापरक' शब्द जोड़ दिया। उद्भट ने भामह के लक्षण को यथावत् ग्रहण कर लिया। इनके टीकाकार इंदुराज ने लक्षण वाक्य में स्थित प्रस्तुतार्थानिबन्धिनी न होगी तो वह उन्मत्तप्रलाप बन जाएगी। तिलक ने पर्यायोक्त से उसके पार्थक्य को भी स्पष्ट किया। अन्ततः, रुय्यक विश्वनाथ तथा जयदेव मम्मट के अनुकर्त्ता हैं। मम्मट ने इसके स्वरूप को स्थिर कर दिया जो अन्त तक कभी शब्दान्तर के साथ तथा कभी उन्हीं शब्दों में ग्रहण किया जाता रहा। परन्तु इस सबके मूल में भामह उपजीव्य बने रहे। उद्भट तथा उनके टीकाकार इस सन्दर्भ में परम्परा के स्थापक कहे जा सकते हैं।

व्याजस्तुति

जहाँ स्तुति के बहाने निन्दा अथवा निन्दा के बहाने स्तुति प्रदर्शित हो वहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इनके अनुसार अत्यन्त गुणशाली वस्तु के साथ समानता दिखाने के लिए प्रस्तुत की निन्दा मुख से प्रशंसा व्याजस्तुति है।[1] दण्डी का लक्षण भी इसी प्रकार है-निन्दा के बहाने से प्रतीयमाना स्तुति को व्याजस्तुति कहते हैं।[2] यथा हे राजन तुम्हें इस बात का अभिमान नहीं होना चाहिए कि तुमने समस्त धरित्री को अधीनस्थ कर लिया है। कारण, इसे तो परशुराम जैसे तपस्वी ने भी अधीनस्थ कर लिया था। इसमें परशुराम की कोटि में रखकर राजा की स्तुति की गई है।[3] उद्भट इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं-शब्दशक्ति-स्वभाव से जहाँ निन्दा दिखाई दे, परन्तु वह वास्तव में स्तुति के रूप में पर्यवसित हो उसे व्याजस्तुति कहते हैं।[4] उद्भट ने 'शब्दशक्ति-स्वभाव' शब्द को

1. दूराधिकगुणस्तोत्र व्यपदेशेन तुल्यताम्।
किंचिद विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा। का० अ०, 3/31
2. यदि निन्दन्तिव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता।
दोषाभासा गुणा एवं लभत्ते ह्यत्र संनिधिम।। का० आ०, 2/343
3. तापसेनापि रामेण जितेयं भूतधारिणी।
त्वया राज्ञापि सैवेयं जिता मा भून्मदस्तव ।। वही, 2/344
4. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठ व्याजस्तुतिरसौमता।। का० सा० सं०, 5/16

भामह के लक्षण में जोड़कर एक नया विचार दिया। टीकाकार इंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि शब्दशक्ति के प्रभाव से जब कोई उक्ति इस तरह से कही जाय कि वह निंदा की तरह प्रतीत हो, परन्तु वह वास्तव में स्तुति ही हो तो व्याजस्तुति अलङ्कार होता है। अभिधायक शब्द अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा जो अभिधेय अर्थ प्रस्तुत करते हैं इसके द्वारा तो निन्दा ही वाच्य होती है परन्तु वह निन्दापरक अर्थ तो अवान्तर वाक्यार्थ है।[1] इसी कारण कहा है-वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा।[2] वस्तुतस्तु का तात्पर्य है अर्थ के सामर्थ्य से वस्तुतः एक दूसरा ही स्तुतिपरक अर्थ मिलता है।[3] ऐसे स्थानों में व्याजस्तुति होता है क्योंकि निंदा के बहाने स्तुति होती है।[4] यथा-तुम्हारी इस अनुपम और अपरिमिति एवं सम्पत्ति को धिक्कार ही है, कारण त्रिभुवन में तुम्हारे अनुरूप वर ही नहीं मिलते।[5] इस उदाहरण में सौंदर्य रूपी विषय में धिक्कार किया गया है वह शब्द के अभिधा नामक साक्षात् व्यापार से समर्पित है।[6] परन्तु वाक्य का आशय उसी अर्थ में नहीं है बल्कि अर्थ का विशेष विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि भगवती का सौंदर्य उत्कर्ष श्लाघ्य है। इसलिए निंदापरक कथन गौण अर्थ है।[7] राजानक तिलक ने अत्यन्त संक्षेप में अलङ्कार का स्वरूप और अधिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी टिप्पणी विशेष रूप से 'शब्दशक्तिस्वभाव' पद पर ही है। जहाँ शाब्दक्रम से निंदा तथा आर्थ क्रम से स्तुति की प्रतीति हो, वह व्याजस्तुति है।[8] मम्मट ने विग्रह के आधार पर व्याजस्तुति के दो अर्थ बताये हैं-व्याजरूपा स्तुतिः, अर्थात् निन्दा परन्तु वास्तव में स्तुति तथा व्याजेन स्तुतिः अर्थात् सुनने में स्तुति परन्तु वास्तव में निंदा।[9] रुय्यक ने मम्मट के अनुसार ही इसके दो भेद किए।[10] भोजराज जयदेव ने मम्मट एवं रुय्यक के आधार पर व्याजस्तुति का वर्णन किया है।[1]

---

1. वाक्यार्थीभूतायामवान्तरवाक्यार्थत्वात्। वही, 5/16 पर ल० वृ०
2. अतएवाह वस्तुतस्तु स्तुति श्रेष्ठा इति। वही
3. वस्तुत इत्यर्थसामर्थ्यादित्यर्थः। वही
4. निंदाव्याजेन हि सा स्तुतिः। वही
5. धिगनन्योपमामेतां तावकीं रूपसंपदम्।
   त्रैलोक्येऽप्यनुरूपो यद्वरस्तव न लभ्यते।। वही, 5/17
5. अत्र यदेतद्धिग्वादोपहत्वं रूपसंपदः साक्षाच्छब्दव्यापारेण स्पृष्टं न तत्स्वात्मपर्यवसितम्। वही, 5/17 पर ल०वृ०
7. अर्थसामर्थ्योत्थलोकोत्तरभगवतीरुपोत्कर्षप्रतिपादनपर्यवसितत्वात्। वही
8. शाब्देन क्रमेण निन्दा। आर्थेन तु स्तुतिर्गम्यते यत् सा व्याजस्तुतिः। वही, 5/16 पर वि०
9. व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा। का० प्र, 112
10. स्तुति-निन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः। अ० स० पृ० 142

विश्वनाथ ने मम्मट की शब्दावली में कुछ अंतर लाकर लक्षण दिया।[2] जगन्नाथ के अनुसार पहले से प्रतीत होने वाली निंदा का स्तुति में और स्तुति का निन्दा में पर्यवसान व्याजस्तुति अलङ्कार होता है।[3]

भामह ने व्याजस्तुति का जो लक्षण प्रस्तुत किया, प्रायः सभी आचार्य शब्दों में कहीं-कहीं परिवर्त्तन करके भी भावरूप में उसे ही स्वीकार करते रहे। उद्भट ने शब्दशक्तिस्वभाव की बात उठाई जिसका समुचित व्याख्यान इंदुराज ने वाक्यार्थ के रूप में किया परन्तु राजानक तिलक ने आपाततः प्रतीत होने वाले तथा कालान्तर में गम्यमान दोनों अर्थों के लिए शाब्दक्रम तथा आर्थक्रम के रूप में व्याख्या करके इस पदार्थ की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की। मम्मट ने इसके जो दो रूप प्रतिपादित किए उनमें अवश्य कुछ नयापन था, अतएव पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य ने भी उसका समर्थन किया।

निदर्शना

दो वाक्यों में परस्पर संभव या असंभव सम्बन्ध होने पर भी उपमा के द्वारा उनमें सम्बन्ध की कल्पना करना निदर्शना अलङ्कार है। इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इनके अनुसार यथा, इव अथवा वत् शब्दों के बिना केवल क्रिया द्वारा ही विशिष्ट अर्थ का प्रदर्शन करना निदर्शना अलङ्कार है।[4] दण्डी के अनुसार यदि अन्य कार्य में प्रवृत्त कर्त्ता के द्वारा उसके अनुरूप सत् या असत् अर्थ का बोध हो तो वहाँ निदर्शना होगा।[5] दण्डी ने इसे निदर्शन कहना है। सत् का उदा-संपदा अथवा अभ्युदय का प्रयोजन मित्रों का उपकार करना है-यह (अपने उदाहरण द्वारा) निदर्शित करने के लिए, कमलों में शोभा करता है।[6] चन्द्रमा की किरणों द्वारा स्पर्श

---

1. उक्तिर्व्याजस्तुतिनिन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः। च० आ०, 5/71
2. निन्दा-स्तुतिभ्यां वाचाभ्यां गम्यत्वे स्तुति निन्दयोः। सा० द०, 10/60
3. आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः। र०ग०, पृ० 556
4. क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
   ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभर्विना।। का० अ०, 3/33
5. अर्थान्तरप्रवृत्तेन किंचितत्सदृशं फलम्।
   सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम्।। का० आ०, 2/348
6. उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम।
   विभावयितुमृद्धीना फलं सुहृदनुग्रहम्।। वही, 2/349

की जाती हुई ही। अन्धकारराशि, राजा (चन्द्र अथवा नृपति) के विरोधियों का अन्त दु:खपूर्ण होता है। इस तथ्य का बोध कराती हुई, तत्क्षण विनाश को प्राप्त होती है।[1] उद्भट ने इस अलङ्कार को एक व्यवस्थित रूप दिया जो कि भामह और दण्डी में नही था। इन्होंने 'भवन्वस्तु सम्बन्ध' एवं अभन्वस्तु सम्बन्ध के आधार पर निदर्शना की भेदव्यवस्था की है। इनके अनुसार दो पदार्थों में संभव तथा असंभव सम्बन्ध रहने पर भी उनमे सादृश्य या उपमान एवं उपमेयत्व की कल्पना की जाय तो निदर्शना अलङ्कार होगा।[2] इस अलङ्कार का सम्बन्ध में 'अभन्वस्तु सम्बन्ध' पद सर्वप्रथम उद्भट ने संयोजित किया था, उत्तराचार्यों ने प्राय: उसी को आधार बना लिया है। इंदुराज ने उद्भट के कथन का विस्तार से वर्णन किया है- जहाँ पदार्थों का संबंध स्वयं उपस्थित नहीं हो परन्तु उपमानोपमेय भाव की कल्पना कराकर पर्यवसन्न हो वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है।[3] यथा-पति के बिना रूपवती कामिनी भी उसी प्रकार श्रीहीन जान पड़ती है, जैसे चन्द्ररहित रजनी।[4] यहाँ रजनिकररहित रात्रि की श्रीहीनता है कर्म उसका भरण रूप क्रिया से जिसका कर्त्ता कामिनी है-संबंध दिखाया गया है-वह अनुपपन्न है।[5] अत: चन्द्रहीन रजनी की श्रीहीनता का भरण उसी प्रकार रजनी ही करेगी, न कि कामिनी। दूसरे रजनी में रहने वाली विशोभता का वहन किसी और के द्वारा किस प्रकार संभव है? इसकी संगति इस प्रकार लगती है कि वाक्यार्थ की विश्रान्ति दोनों के बीच उपमानोपमेयभाव की कल्पना में ही होगी। अर्थात् यह तात्पर्यार्थ है कि कामिनी कृष्णरात्रि की तरह श्रीहीनता का भरण करती है। इस तरह से यह सब वस्तु-वस्तु के असम्बन्ध होने पर उपमानोपमेयभाव की कल्पना निर्भर है।[6] राजानक तिलक ने इसके मूल में अतिशयोक्ति का गुण स्वीकार किया है।[1]

---

1. याति चन्द्रांशुभि: स्पृष्ट ध्वान्तराजि: पराभवम्।
सद्यो राजविरुद्धानां सूचयन्ती दुरन्तताम्।। वही, 2/350
2. अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना।। का० सा० सं०, 5/18
3. यत्र पदार्थानां संबंध: स्वयमनुपपद्यमान: सन्नुपमानोपमेयभावे पर्यवस्यति अथवा उपमानोपमेयभावकल्पनया स्वात्मानमुपपादयति तत्र विदर्शना। वही, 5/18 पर ल० वृ०
4. विनोचितेन पत्या च रूपवत्यपि कामिनी।
विधुबंध्यविभावर्या: प्रबिभातै: विशोभताम्।। वही, 5/19
5. अत्र रजनिकररहितविभावरीविशोभत्वस्य यदेतत्वकर्मत्वं तत्कामिनीकर्तृकायां भरणक्रियायां न समन्वयं गच्छति। न ह्यन्यस्य संबंधिनो विशोभामन्यो विभर्ति। अत: पदार्थ-समन्वयस्यात्रानुपपत्ति:। वही
6. एवमेतद्भवति वस्त्वसंबंधे उपमानोपमेयभाव कल्पना। वही, 5/19 पर ल० वृ०

इसका द्वितीय उदाहरण उद्भट में प्राप्त नहीं होता। अत: दोनों ही टीकाकारों ने यहाँ भामह के उदाहरण को उठाकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा–यह मंदप्रभ सूर्य अस्ताचल को जाना चाहता है, मानो श्रीमन्त लोगों को यह बोध कराता हुआ कि उदय सदा पतन के ही लिए होता है।[2] इस उदाहरण में अस्तोन्मुख सूर्य को देखने वाले श्रीमानों को यह बोध कराया जा रहा है कि सूर्य की तरह सबका उदय और पतन होता है।[3] इस तरह से समझाये जाते हुए श्रीमानों को अपनी अवस्था को दिखाकर मानो सूर्य यह प्रेरणा देता है कि जिस प्रकार उसका यह उदय पतनावसायी हुआ है वैसा ही उनका भी होगा। इस तरह यहाँ प्रयोजक का व्यापार प्रेषणात्मक (आज्ञा देना) या अध्येषणात्मक (प्रार्थना करना) नहीं है बल्कि समर्थ आचरण रूप ही है।[4] मम्मट पर उद्भट का प्रभाव है। उन्होंने दो पदार्थों के असंभव सम्बन्ध में उपमा की परिकल्पना को निदर्शना कहा है।[5] इन्होंने वाक्यार्थ और पदार्थ दो भेद बताए हैं। क्रिया के द्वारा ही अपना और अपने कारण का सम्बन्ध के कथन करने पर दूसरे प्रकार का निदर्शना होता है।[6] यथा–जो क्षुद्र पुरुष होता है वह ऊँचे पद को पाकर भी अनायास ही पतित हो जाता है यह बतलाते हुए पर्वत के शिखर पर स्थित पत्थर का कण सुन्दर मन्द वायु के झोंके से हिलकर नीचे गिर पड़ता है।[7] रुय्यक के लक्षण में मुख्य 'प्रतिबिम्बकरण' शब्द है। इन्होंने संभव अथवा असंभव वस्तु के सम्बन्ध से बिम्बप्रतिबिम्बग्रहण करने को निदर्शना बताया है।[8] रुय्यक ने दोनों अलङ्कारों का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया

---

1. ननु भिन्नोर्विशोभतयोरैक्यमध्यवसितमिति भेदे अभेद इत्येवमात्मिकेयमतिशयोक्तिः। वही, 5/19 पर वि०
2. अयं मंदद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
   उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्।। का० अ०, 3/34
3. तथाविधं खलु भास्वन्तं पश्यन्तः श्रीमन्तो बुध्यन्ते भास्वत इव सर्वस्वोदयः पातावसान इति। वही
4. तांश्चासौ तथावबुध्यमानान् स्वावस्थोपदर्शनेन प्रयुङ्क्ते यथाममायमुदयः पातावसानस्तथा भवतामपीति। वही
5. अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः। का० प्र०, 10/97
6. स्वस्वहेत्वन्यस्योक्तिः क्रियैव च साऽपरा वही, सूत्र 149
7. उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पदेदिति ब्रुवन्।
   शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पत्यधः। वही, 10/439
8. सम्भवतासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना। अ०स०, पृ० 73

है।[1] मम्मट की मालारूपा निदर्शना को रुय्यक भी स्वीकार करते हैं। जयदेव के अनुसार दो भिन्न वाक्यों में सादृश्य के कारण एक आरोप को निदर्शना कहते हैं।[2] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के ही लक्षण को अपनाया है।[3] जगन्नाथ का कथन है कि ग्रहण किए गए दो अर्थों का उपमा में पर्यवसित होने वाले आर्थ अभेद को निदर्शना कहते हैं।[4]

सर्वप्रथम भामह ने इस अलङ्कार का विवेचन किया। इन्होंने क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्रतीति को निदर्शना बताया है। दण्डी ने सत्-असत् कार्य के द्वारा अन्यों के सत्-असत् कार्य को निदर्शना कहा है। उद्भट ने भवन्वस्तुसम्बन्ध तथा अभवन्वस्तुसम्बन्ध पदों द्वारा निदर्शना की व्याख्या की, इंदुराज ने उद्भट के ही कथन का विस्तृत रूप में विवेचन किया। जहाँ पदार्थों का संबंध स्वयं उत्पन्न न हो बल्कि, उपमानोपमेयभाव की कल्पना कराकर पर्यवसित हो विश्रान्त अथवा प्रतिष्ठित हो अथवा उपमानोपमेयभाव की कल्पना कराकर ही अपनी उपपन्नता दिखाए वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है। तिलक ने यहाँ अतिशय के योग की बात भी की थी जिसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने नहीं माना। उत्तरवर्ती आचार्यों पर उद्भट का प्रभाव स्पष्ट है। इन्दुराज की उपजीव्यता भी बनी हुई है। परन्तु मम्मटादि का विवेचन स्पष्टता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उपमेयोपमा

जहाँ उपमेय और उपमान क्रमशः उपमान और उपमेय के रूप में वर्णित किए जाएँ वहाँ उपमेयोपमा होती है। इस प्रकार इसका बीज तृतीय पदार्थ व्यावृत्ति है। अर्थात् वर्ण्यमान दो पदार्थ ही एक दूसरे के उपमान बन सकते हैं, अन्य कोई तृतीय पदार्थ उसके तुल्य नहीं है।

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इनका कथन है कि जब बारी-बारी से उपमान को उपमेय एवं उपमेय को उपमान बनाया जाए तो उपमेयोपमा

---

1. निरपेक्षयोः वाक्यार्थयोः हि बिम्बप्रतिबिम्बभावोदृष्यान्तः। यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र सम्बन्धानुपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता न दृष्यन्तः। वही पृ० 99
2. वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना। च० आ०, 5/58
3. वाक्यार्थयोः सदृश्योरैक्यारोपो निदर्शना। कु० आ०, 53
4. उपात्तयोरर्थयोरार्थभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना। र०गं०, पृ० 456

अलङ्कार होता है।[1] यथा–सुगन्धित नेत्रों को आनन्दित करने वाला, मदिरा के मद से पाटल तुम्हारा मुख कमल के समान है (और) तुम्हारे मुख के समान कमल है।[2] दण्डी ने इस अलङ्कार को उपमा के साथ वर्णन करते हुए उसके अनेक भेदों में से एक भेद को अन्योन्योपमा कहा है। यह अन्योन्योत्कर्षशंसिनी[3] है। यथा–कमल तुम्हारे मुख के समान है और तुम्हारा मुख कमल के समान है।[4] उद्भट ने भामह के लक्षण में पक्षान्तरहानि[5] पद के द्वारा विषय के स्पष्ट किया है। इनके अनुसार जहाँ उपमान एवं उपमेय परस्पर उपमेय एवं उपमान कहे जाएँ वहाँ उपमेयोपमा होती है। अन्य तृतीय वस्तु के अभाव में उपमेय एवं उपमान परस्पर उपमान एवं उपमेय बन जाते हैं। उद्भट के टीकाकार, प्रतीहारेंदुराज ने उद्भट के कथन इस प्रकार विवेचन किया है। जहाँ दोनों उपमान तथा उपमेय में परस्पर उपमानोपमेय भाव हो वहाँ उपमेयोपमा होती है।[6] इन्होंने उद्भट द्वारा प्रयुक्त 'पक्षान्तरहानिगम्' पद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उपमेय से उपमान की समानता होने पर यह आशंका की जाती है कि यहाँ उपमेय वह होता है जो प्राकरणिक हो–और उपमान वह है जो अप्राकरणिक हो।[7] अगर यहाँ उपमेय की उपमानता कही जाय तो ऐसा होने से उपमेय की प्राकरणिकता पर चोट आती है (कारण जो उपमान हो गया वह अप्राकरणिक हो गया) यहाँ उपमानोपमेयभाव दोनों इस प्रकार हैं कि किसी तीसरे की आवश्यकता नहीं है।[8] इसलिए इन दो पक्षों के अतिरिक्त अन्य पक्ष की यहाँ हानि विवक्षित होने से पारस्परिक उपमानोपमेय भाव दूषित नहीं होता है।[9] यदि पक्षान्तर की हानि इस तरह

---

1. उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्
   उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम्।। का० अ०, 3/37
2. सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामपाटलम्।
   अम्भोजमिव वक्त्र ते, त्वादस्यमिव पंकजम्।। वही, 3/38
3. इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी।। का० आ०, 2/18
4. तवाननमिवाभोजमिव ते मुखम्। वही
5. अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता।
   उपमेयोपमामाहुस्तां पक्षन्तरहारिगाम्।। का० सा०, सं०, 5/27
6. यत्रोभयोरुपमानोपमेययोः परस्परमुपमानोपमेयभावस्तत्रोपमेयोपमा। वही, 5/27 पर ल०वृ०
7. ननु च प्राकरणिकं साम्याभिधानसंबंधि उपमेयम् अप्राकरणिकमुपमानात्। वही
8. नात्रोपमानोपमेयभावे तात्पर्यम्, किन्तु एतदेव द्वयमेवंविधं विद्यते न त्वन्यदेतयोः सदृशं वस्त्वन्तरं विद्यत इति। वही
9. अतश्च एतत्पक्षद्वितयव्यतिरिक्तस्य पक्षान्तरस्यात्र हानेर्विवक्षितत्वात्परस्परमुपमानोपमेयभावे न दुष्यतीति। वही

से प्रतिपाद्य है तब पारस्परिक उपमानोपमेय भाव की बात को अवान्तर वाक्यार्थ ही मानना पड़ेगा। यथा विष खिला दो यह कहीं अच्छा है, पर उसके घर भोजन न करना।[1] इससे स्पष्ट ही विष ग्रहण वाक्य का प्रमुख अर्थ नहीं है। प्रमुख अर्थ है-दुर्जन के गृह में भोजन का निषेध[2] इसी प्रकार उपमानोपमेय भाव की विवक्षा प्रधान नहीं है बल्कि तृतीय सदृश का निषेध प्रधान है। रण में शत्रुओं के कमलशिर को वेगपूर्वक उखाड़ने वाले जिस व्यक्ति के हाथ चक्र की तरह और चक्र हाथ की तरह है।[3] इस उदारहण में 'यस्य' शब्द उपात्त है, वह तत् से अपने अन्वय के लिए साकांक्ष है। कर तथा चक्र का पारस्परिक उपमानोपमेयभाव है।[4] यहाँ अत्यन्त शीघ्रता से शत्रु के शिर का हनन करना साधारण धर्म है।[5] इस प्रकार से यदि केवल इन्हीं में परस्पर उपमानोपमेयभाव होगा, तो उसका आशय यह होगा कि इन दोनों के समान कोई तीसरा नहीं होगा।[6]

राजानक तिलक ने भी पक्षान्तरहानि की बात पर जोर दिया है। उनका कथन है कि उपमानान्तर सद्भाव रूप पक्षान्तर के अभाव को प्रकट करने के लिए ही जो उपमेय का ही उपमान के रूप में कथन होता है। वह उपमेयोपमा है।[7] इस संदर्भ में उन्होंने अनन्वय से इसका भेद भी प्रदर्शित किया है। इस अलङ्कार में दो वाक्यर्थ बनते हैं जबकि अनन्व्य में एक ही वाक्यार्थ होता है।[8]

इस सन्दर्भ में पूरी परम्परा आद्याचार्य भामह की अनुवर्तिनी है। लगभग सभी आचार्यों ने उन्हीं शब्दों में अथवा शब्द बदलकर एक ही बात कही है। उद्भट ने एकाध शब्द बदलकर भामह का लक्षण ही प्रस्तुत कर दिया है। हाँ, पक्षान्तरहानि की बात नयी है। इनके दोनों टीकाकारों ने भी इस विशेषण पर अधिक जोर दिया, और उत्तरवर्ती लगभग सभी आचार्य, जिनमें मम्मट और पण्डितराज की सम्मति है, उद्भट

1. तस्य पक्षान्तरहानौ प्रतिपाद्यायामवान्तरवाक्यार्थत्वेनावस्थानात् वरं विषंभक्ष्यय मा चास्य गृहे भुक्त्वा-इतिवत्।
2. अत्र हि विषभक्षणं न विधीयते, दुर्जनगृहे भोजन परिवर्जनतात्पर्यत्। वही
3. शिरांसि पंकजानीव वेगात्पातयतो द्विषाम्। आजौ करोपमं चक्रं यस्य चक्रोपमः करः।। वही, 5/28
4. अत्र करचक्रयोः परस्परमुपमानोपमेयभावः। वही
5. साधारणश्चात्र धर्मः अतित्वरितत्वेन शत्रुशिरोवकर्तनम्। वही
6. यदि परमेतयोरेव परस्परमुपमानोपमेयभावः स्यादन्यत्वेतयोरुपमानं नास्तीति। वही
7. उपमानान्तरसद्भावरूपपक्षान्तराभावमवगमयितुं यदुपमेयोप(मेय)मेवोपमानीक्रियते सोपमेयेनोपमा इत्युपमेयोपमा। वही, 5/27 पर वि०
8. अन्योन्यशब्दोपादानाच्चात्र वाक्यार्थद्वयर्त्ययमलङ्कारः अनन्वयस्त्वेकवाक्यार्थवर्ती। वही

की इस स्थापना का आदर करते रहे। केवल अप्पयदीक्षित ने लीक से हटकर एक बार पुनः पारस्परिक उपमानोपमेय भाव पर बल देना चाहा था। इससे तृतीय व्यावृत्ति की बात स्वतः आ जाती है।

इस प्रकार एक बार पुनः उद्भट एक धारा को दिशा देने वाले आचार्य सिद्ध होते हैं। उनके इन दोनों ही टीकाकारों ने उनके अभिलषित भाव को स्पष्ट कर उसे सही रूप में प्रस्तुत किया। इनके आलोक में दण्डी का अन्योन्योपमा नाम अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होने पर भी निष्प्रभाव हो गया।

सहोक्ति

जहाँ 'सह' अर्थ के बोधक शब्दों के द्वारा एक ही पद दो अर्थों के साथ सम्बद्ध हो वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है। सहोक्ति की आधारशिला व्याकरणिक प्रयोग है। पाणिनि के सूत्र सहयुक्तेऽप्रधाने[1] की भित्ति पर ही यह अलङ्कार अधिष्ठित है। इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इनके अनुसार एक ही समय में होने वाली दो भिन्न वस्तुओं की पृथक् पृथक् क्रियायें यदि एक ही पद से कही जाएँ तो उसे सहोक्ति अलङ्कार कहेंगे।[2] यथा–उन रात्रियों के साथ, जिनमें दिखाएँ हिमपात से आच्छन्न हो गई हो, जो गाढ़ आलिङ्गन की प्रेरणा देती हों कामियों की प्रति भी बढ़ गई है।[3] यहाँ 'बढ़ना' क्रिया का सम्बन्ध रात्रि और प्रीति दोनों से है पर एक पद से कही गयी है। दण्डी का कथन है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के गुण क्रियाएँ एक ही पद से कहे जाने पर 'सहोक्ति' अलङ्कार होता है।[4] उद्भट ने भामह के लक्षण को यथावत् ग्रहण कर लिया है।[5] इन्होंने सहोक्ति में एक ही पद के द्वारा दो वस्तुओं में समाश्रित परन्तु तुल्यकाल में विद्यमान, दो क्रियाओं का वर्णन किया जाना स्वीकार किया है। 'तुल्यकाले' पद का प्रयोग भामह तथा उद्भट ने सहोक्ति को दीपक से पृथक् करने के लिए किया है। टीकाकार प्रतीहारेंदुराज का कथन है कि 'दीपक' अलङ्कार में भी दो वस्तुओं के गुण और क्रियाएँ साथ ही एक पद से प्रतिपादित होता है परन्तु

1. अष्ट्यध्यायी, 2/3/19
2. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
   पदेनैकेन कथ्यन्ते सहोक्तिः सा मता यथा।। का० अ०, 3/39
3. वृद्धिमायान्ति यामिन्यः, कामिनां प्रातिभिः सह। वही, 3/40
4. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम्। का० आ०, 2/35
5. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते।
   पदेनैकेन कथ्यन्ते सा साहक्तिर्मता सताम्।। का० सा० सं०, 5/29

सहोक्ति में 'सह' आदि शब्दों का प्रयोग समकालिकता का बोध कराता है जो कि दीपक में नहीं होता है। 'सह' आदि शब्दों के द्वारा जिन दो क्रियाओं या गुणों की समकालिक स्थिति बोधित होती है-वह भी दो प्रकार की हो सकती है। प्रथम रूप यह है कि कभी जिन दो क्रियाओं का एक साथ होना कहा जाता है, वे दोनों क्रियाएँ समकक्ष होने के कारण अपने आश्रय में प्रतिष्ठित बतायी जाती हैं।[1] यथा-देवदत्त और यज्ञदत्त साथ-साथ खा रहे हैं।[2] द्वितीयत: कभी यह होता है कि एक ही आश्रय में प्रमुख क्रिया विश्रान्त रहती है अर्थात् एक ही वस्तु से उसका संबंध रहता है पर 'सह' आदि शब्दों के अर्थ की पर्यालोचना करने से सामर्थ्यवश यह ज्ञात हो जाता है कि इस क्रिया का संबंध अन्य वस्तु से भी है।[3] यथा-यज्ञदत्त के साथ देवदत्त भोजन करता है। इस तरह से एक जगह पर क्रिया का शाब्द संबंध प्रतीत होता है, जबकि दूसरी जगह अर्थत: संबंध प्रतीत होता है-अत: यहाँ की उक्ति कुछ वक्रता सी लिये है।[4] इसी प्रकार के स्थलों में जहाँ शोभातिशय का विधान हो, वहीं सहोक्ति अलङ्कार होता है सर्वत्र नहीं। यथा जिसके चन्द्र संज्ञक आज्ञाकारी सेवक मृत्यु के साथ द्युजन भी तारिकामय रणस्थली में प्राप्त मनोरथ हुआ।[5] इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि दो क्रियापदों का उपादान नहीं होना चाहिए, अतएव लक्षण वाक्य में शब्द का प्रयोग किया गया है। राजानक तिलक ने भी इन्हीं प्रश्नों पर और स्पष्टता के साथ विचार किया है। जहाँ दो वस्तुओं में समाश्रित क्रियाओं का एक पद से कथन किया जाता है वह सहोक्ति है।[6] इस सन्दर्भ में विवृत्ति टीकाकार दीपक से इसके भेद को स्पष्ट करने में भी समुद्यत है। वामन तथा मम्मट[7] के लक्षण में भामह तथा उद्भट का प्रभाव

---

1. कदाचित्खलु ययो: क्रिययोस्तुल्यकालता ते क्रिये तुल्यकक्षतया स्वाश्रयविश्रान्तत्वेनाभिधीयेते। वही, 5/29 पर ल० वृ०
2. देवदत्तयज्ञदत्तौ सहभुञ्जाते इति। वही
3. कदाचित्त्वेकाश्रयविश्रान्तायां क्रियायामाभिहितायां सहाद्यर्थपर्यालोचनासामर्थ्यादपरस्याश्रयस्य क्रियासंबंधोऽवगम्यते। वही
4. तत्रेह द्वितीया गतिराश्रीयते शाब्देन रूपेणैकत्र क्रिया संबंधस्य प्रतीतस्यापरत्रार्थेन रूपेणीत्रीयमानत्वेन। वक्रभणितेउसद्भावात्। वही
5. द्युजनो मृत्युना सार्ध यस्याजौ तारकामये।
चक्रे चक्राभिधातेन प्रैष्येणाप्तमनोरथ:। वही, 5/30
6. वस्तुद्वयसमाश्रिते द्वे क्रिये एकेन साधारणेन पदेन यत् कथ्येते सा सहोक्ति:। वही, 5/29 पर वि०
7. सा सहोक्ति: सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचिकम्। का० प्र०, 10/112

है। रुय्यक ने सहोक्ति के स्वरूप निदर्शन, भेद कथन तथा उसकी अतिशयोक्ति मूलकता का निर्देश कर नया विचार दिया। इनके अनुसार उपमान और उपमेय दोनों में से एक की अप्रधानता के निर्देश करने पर दूसरे के साथ सह अर्थ का सम्बन्ध होने पर सहोक्ति होता है।[1] जयदेव ने चमत्कारपूर्ण ढंग से दो पदार्थों का सहभाव बताने को सहोक्ति कहा है।[2] विश्वनाथ ने सहोक्ति की अतिशयमूलकता का निर्देश किया है।[3] अप्पयदीक्षित ने जयदेव के लक्षण का अनुकरण किया है।[4] जबकि जगन्नाथ ने एक पद के साथ सम्बद्ध इन दो अर्थों में मुख्य व गौणभाव का भी कथन किया है।[5] अस्तु।

सहोक्ति की अलङ्कारता तथा इसके स्वरूप निरूपण की दृष्टि से लगभग सभी आचार्य भामह के अधमर्ण है। उद्भट ने भामह के शब्दों को ही यथावत् स्वीकार कर लिया। उनके टीकाकारों ने इसके स्वरूप का समुचित उपस्थापन किया तथा दीपक से इसकी विभाजक रेखा को भी स्पष्ट किया। भामहोक्त लक्षण की परिधि के भीतर ही रुद्रट ने इसकी वास्तवमूलकता तथा औपम्यमूलकता का निर्देश किया जबकि रुय्यक ने इसमें अतिशय तत्त्व को विशेष रूप से ढूँढना चाहा। विश्वनाथ रुय्यक से सहमत थे। बहुत समय बाद जाकर केवल पण्डितराज ने एक पद के साथ सम्बद्ध दो अर्थों में मुख्य गौण भाव की बात कही। इस सन्दर्भ में उद्भट और उनके दोनों टीकाकार भामह के अधमर्ण होकर भी परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में खड़े दिखाई देते हैं।

संकर

भामह ने 'संकर' नामक अलङ्कार की चर्चा नहीं की इन्होंने सृष्टि के संदर्भ में कहा है कि अनेक अलङ्कारों का योग होने के कारण संसृष्टि एक उत्तम अलङ्कार है। दण्डी के अनुसार नाना अलङ्कारों का यह संसर्ग दो प्रकार का होता है (1) अलङ्कारों की परस्पर सापेक्ष या गुणप्रधान भाव से अर्थात् अंगागिभावपूर्वक स्थिति हो तथा (2) उनकी समकक्ष स्थिति उद्भट तथा दण्डी दोनों ने इस अलङ्कार की निरपेक्ष

---

1. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः। अ० स०, पृ०, 104
2. सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरंजन। च० आ०, 5/60
3. सहार्थस्य बलोदकं यत्र स्थाद्वाचकं द्वयोः।
   सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्।। सा० द०, 10/55
4. सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जनः।
   दिगन्तमगमत्तस्य कीर्त्तिः प्रत्यर्थिभिः सह।। कु० आ०, 1/57
5. गुणप्रधानभावावावच्छिन्नसहार्थसंबंध सहोक्तिः। र० गं०, पृ० 481

स्थिति को संसृष्टि कहा तथा सापेक्ष स्थिति को संकर बताया है। उद्भट ने इस अलङ्कार का लक्षण नहीं दिया। इसके चार भेद हैं–

1. **संदेह संकर**–जहाँ एक से अधिक अलङ्कारों की एकत्र स्थिति हो,[1] पर वे ऐसे विरोधी रूप के हों, कि उन सभी की एक साथ स्थिति असंभव हो, और किसी एक का ग्रहण अथवा त्यागने का कोई आधार न हो तो ऐसे अलङ्कार को संदेह संकर कहेंगे।

2. **शब्दार्थवर्ती संकर**–जहाँ एक ही वाक्य में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों की स्थिति हो तो वहाँ शब्दार्थवर्ती संकर होता है।[2]

3. **एक-शब्दाभिधान संकर**–जब एक वाक्य में अनेक अलङ्कारों की स्थिति हो तब एक शब्दाभिधान संकर होता है।[3]

4. **अनुग्राह्यनुग्राहक संकर**–जब अलङ्कार की स्वतंत्र स्थिति न हो किंतु परस्पर उपकार करें तब अनुग्राह्यनुग्राहक संकर की स्थिति होती है।[4]

प्रतीहारेन्दुराज तथा राजानक तिलक दोनों ही ने उद्भट के चारों प्रकारों द्वारा निर्दिष्ट इनको लक्षण व उदाहरण के साथ स्पष्ट किया है।

1. **संदेह संकर**– इस अलङ्कार की एकत्र स्थिति हो परन्तु उन सभी की एकत्रे स्थिति संभव नहीं हो। साथ ही किसी एक को ग्राह्य करने में त्याज्य में कोई भी साधक या बाधक प्रमाण मिले हुए या अलग-अलग रूप से नहीं होने चाहिए। यथा-यद्यपि अत्यन्त वरचन्द तुमसे प्राप्त किया ही जाएगा, फिर भी कहता हूँ किसी वर में आदर बुद्धि कर लो।[5] इस उदाहरण में 'वरेंदु' में वर ही इंदु है-इस विग्रह में अनुरूप रूपक तथा समासोपमा का वर्णन (संभव) है।

2. **शब्दार्थवर्त्यलङ्कार**-जहाँ एक ही वाक्यांश में शब्दवर्ती तथा अर्थवर्ती अनेक अलङ्कारों का संबंध हो वहाँ शब्दार्थवर्त्यलङ्कार नामक संकर

---

1. अनेकालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः।। का० सा०, सं०, 5/20
2. शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र भासिनः। वही, 5/22
3. एकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते।। वही
4. परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।
स्वतंत्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोपि संकरः।। वही
5. यद्यप्यत्यन्तमुचितो वरेंदुस्तेन लभ्यते।
तथापि वच्मि कुत्रापि क्रियतामादरो वरे। वही, 5/21

भेद है। यथा–इस प्रकार की स्थिति यदि वर के लिए है तो व्यर्थ याचकता न कर। कारण तुम्हारे रूप के सामने समस्त युवक पैरों पर लुढ़के पड़े किंकर की भाँति हैं।[1] यहाँ 'थ' का अनेक बार उपनिबंध होने से अनुप्रास अलङ्कार शब्दालङ्कार है और अर्थालङ्कार अर्थान्तरन्यास है। इस प्रकार इस उदाहरण में शब्दार्थवर्ती (शब्दगत अनुप्रास तथा अर्थालङ्कार अर्थान्तरन्यास) अलङ्कारों के संयोग से एक शब्दार्थवर्ती संकर हुआ।

3. **शब्दाभिधान संकर**–जब वाक्य के एक भाग में अलङ्कारों का अनुप्रवेश होता है तब एक शब्दाभिधान संकर होता है। यथा उस चित्रस्थ कमलिनी की भाँति, जो गुलाबी वर्ण तथा सुन्दर कर्णिका वाली है–गौर वर्ण एवं सुन्दर कानों वाली पार्वती तुम केवल दृष्टि मात्र को सुख देने वाली न हो।[2] प्रस्तुत उदाहरण में उपमालङ्कार है और उपमा की झलक प्रदर्शित करने वाला श्लेष है। ये दोनों अलङ्कार 'इव' शब्द में व्याप्त है। क्योंकि कमलिनी उपमान है गौरी उपमेय है, दृष्टिमात्र सुखप्रदत्व साधारण धर्म है–इस प्रकार यहाँ उपमा है। 'सच्छायवर्ण' इत्यादि में श्लेष है जोकि कमलिनी में गुलाबी हो सकता है और गौरी में गौरता के रूप में घटित हो सकता है। अम्भोजिनी या कमलिनी में कर्णिका का आशय है–कमलमध्यवर्ती बीज कोश तथा गौरी में सुन्दर कान। यहाँ समास्यान्त प्रत्यय 'कप्' हैं। इस प्रकार ये दो अलङ्कार एक वाक्यांश अवस्थित हैं। अतः यह एक शब्दाभिधान संकर है।

4. **अनुग्राह्यानुग्राहक संकर**–जहाँ परस्पर उपकार्य भाव से स्थित अलङ्कार निरपेक्ष रूप से आत्मलाभ नहीं करते हैं वहाँ अनुग्राह्यानुग्राहक संकर होता है। यथा–शंकर के समान यह स्मर व्याध तुम्हारे द्वारा अनंगीकृत (अस्वीकार किये जाने पर) होने पर भी लगता है मानों धृष्टतावश तुम्हारे शरीर को यह क्षणभर भी नहीं छोड़ना चाहता।[3] इस उदाहरण में

---

1. इत्थं स्थितिर्वरार्था चेन्मा कृथा व्यर्थमर्थिताम्।
रूपेण ते युवा सर्वः पादबद्धो हि किंकरः।। वही, 5/23

2. मैवमेवास्थ सच्छायवर्णिका चारुकर्णिका।
अम्भोजिनीव चित्रस्था दृष्टिमात्रसुखप्रदा।। वही, 5/24

3. हरेणेव स्मरव्याधस्त्वयाऽनंगीकृतोऽपि सन्।
त्वद् वपुः क्षणमप्येष धार्ष्ट्यादिव न मुञ्चति।। वही, 5/26

धाष्ट्र्यायादित्व में जो उत्प्रेक्षा है, वह हरेणेव इत्यादि पूर्वार्द्ध से उपमा की झलक देने वाले श्लेष के ही कारण स्वरूप लाभ कर पाते हैं। कारण यहाँ अनंगीकृत के दो अर्थ हैं–अनंगता या अशरीरता को प्राप्त कराया हुआ और अस्वीकृत किया हुआ। तो यहाँ श्लेष के द्वारा ही उत्प्रेक्षा अपने अस्तित्व को प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार अनुग्राह्यानुग्राहक संकर हुआ।

रुद्रट ने संकर के दो भेदों का उल्लेख किया है जो आगे चलकर संसृष्टि एवं संकर नाम से प्रसिद्ध हुए।[1] मम्मट ने संकर के तीन भेद बताये हैं–अंगांगिभाव संकर, संदेह संकर, एकश्रयानुप्रवेश संकर।

एकश्रयानुप्रवेश संकर में दो अलङ्कार एक स्थान पर संदिग्ध अथवा अंगागिभाव में नहीं रहकर स्पष्ट एवं पृथक् पृथक् रूप से रहते हैं। उद्भट का शब्दार्थवर्त्यलङ्कार संकर उत्तर आचार्यों की संसृष्टि है। रुय्यक ने संकर के तीन भेद बताये हैं–अंगांगिभाव संकर, संशय तथा एकवाचकानुप्रवेश। इन्होंने अंगांगिभाव संकर के विषय में बताया कि शब्दालङ्कारों का अंगांगि संकर नहीं हो सकता, संसृष्टि होगी। इन्होंने तीनों भेदों का वर्णन करने के पश्चात् यह स्पष्ट किया कि उद्भट द्वारा प्रतिपादित शेष भेद संसृष्टि के अन्तर्गत आते हैं। संकर के तीन भेद हैं।[2] उत्तरवर्ती परम्परा में केवल जयदेव ने संकर के अलङ्कारत्व का खंडन किया है। इनका कथन है कि ये अलङ्कार उपर्युक्त अलङ्कारों के विन्यास से ही होते हैं। इसलिए इसे पृथक् अलङ्कार नहीं स्वीकारना चाहिए। यदि न्यूनता अथवा अधिकता के आधार पर इनको अलग माना जाएगा तो अलङ्कारों की गणना अनन्त हो जाएगी, क्योंकि सौन्दर्य की न्यूनता अथवा अधिकता सर्वत्र है।[3] शेष सभी आचार्य न केवल इसकी अलङ्कारता को स्वीकार करते रहे हैं बल्कि भामह की सरणि में इस अलङ्कार में सौन्दर्य के उत्तम रूप के दर्शन करते रहे हैं।

---

1. शब्दालङ्कारयोः शब्दवदुपकार्योपकारकत्वभावेनांगागी भावाभावात्।
शब्दालङ्कारसंसृष्टिस्त्वत्र श्रेयसी। का० प्र०, वृत्ति, पृ० 250
2. शब्दार्थवर्त्यलङ्कारसंकरस्तु भट्टोदभटप्रकाशितः संसृष्ट्यवन्तर्भावित इति त्रिप्रकार एव संकर इह प्रदर्शितः। अ० स०, पृ० 111
3. शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टि संकरौ।
एतेषामेव विन्यासान् नासंकान्तराव्ययी। च० आ०, 5/119
सर्वेषां च प्रतिद्वन्द्व-प्रतिच्छन्दभिदाभृताम्।
उपाधिः क्वचिदुद्भित्रः स्यादन्यत्रापि संभवात्।। वही, 5/120

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। उद्भट को इसकी वर्गीकृत रूप में व्यवस्थित प्रस्तुति का श्रेय जाता है। उत्तरवर्ती काल में जाकर इसका विकास संसृष्टि के अनुप्रवेश से सीमित हो गया। परन्तु पूर्वाचार्यों की स्थापनाओं की उपजीव्यता पुनरपि निस्संदिग्ध रूप से बनी रही। केवल जयदेव ने इसकी स्वतंत्र अलङ्कारता को लेकर प्रश्नचिह्न अवश्य लगाया। उनमें भी इसके सौन्दर्य को लेकर कोई संशय नहीं है। अन्यथा मम्मट और रुय्यक से लेकर अन्त तक इसके स्वरूप तथा भेदों का जो विवेचन हुआ उस पर उद्भट की छाया देखी जा सकती है।

परिवृत्ति

सम अथवा असम पदार्थों के परस्पर विनिमय को परिवृत्ति अलङ्कार कहते हैं। इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इनका कथन है कि किसी (अन्य) वस्तु के त्याग से विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति को परिवृत्ति अलङ्कार कहते हैं।[1] इस अलङ्कार में अर्थान्तरन्यास का भी समावेश रहता है। इन्होंने दो बातों पर ज्यादा बल दिया है विशिष्ट की प्राप्ति तथा अर्थान्तरन्यास की अनिवार्यता, जिन्हें अन्य आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। दण्डी ने बिना किसी विशेषता के वस्तुओं के विनिमय मात्र को परिवृत्ति अलङ्कार कहा।[2]

उद्भट का परिवृत्ति-निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अधिक पूर्ण एवं विस्तृत है। किसी वस्तु का समन्यून अथवा विशिष्ट के साथ परिवर्तन परिवृत्ति है।[3] और इसके स्वभाव के संबंध में अर्थानर्थ कहा है। इन्होंने सर्वप्रथम इसके तीन प्रकारों का वर्णन किया समपरिवृत्ति, विशिष्ट परिवृत्ति। इंदुराज ने उद्भट के कथन को विशद किया है-परिवृत्ति में जहाँ बराबर-बराबर लेन-देन हो वहाँ इनका अनर्थ स्वभाव, समझना चाहिए।[4] यहाँ 'अर्थ' शब्द का अर्थ है-उपादेय अर्थ वह जो याचित किये जाएँ। याचित वही होता है जो उपादेय हो। जहाँ बराबर ही लेनदेन है-वहाँ उपादेयता क्या है। इसलिए अर्थ्यता न होने के कारण वहाँ 'अनर्थ' शब्द का प्रयोग होता है जहाँ

---

1. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।
   अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा।। का० अ०, 3/41
2. अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिरसौ यथा। का० आ०, 2/351
3. समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित् परिवर्त्तनम्।
   अर्थानर्थस्वभावं यत् परिवृत्तिरभाणि सा।। का० सा० सं०, 5/31
4. यत्र यस्याः समोऽर्थः परिवर्त्यते तस्या अनर्थस्वभावता। वही

पर निकृष्ट वस्तु लेकर और बदले में उत्कृष्ट वस्तु दी जाय वहाँ भी उपादेय से विपरीत का उपादान होने के कारण अनर्थरूपता ही कही जाएगी।[1] अनर्थ कहने का तात्पर्य जो अर्थ से विपरीत हो। यथा-अधर्म एवं अनृत शब्द है जहाँ धर्म विपरीत तथा ऋत विरुद्ध जो कुछ भी है वह सब अधर्म और अनृत समझा जाता है।[2] अधर्म एवं अनृत शब्दों से धर्म एवं ऋत का अभाव नहीं कहा जाता, न तो उसके समान ही कोई अर्थ विवक्षित रहता है, बल्कि धर्म एवं ऋत के प्रतिपक्षी का ही बोध होता है। जहाँ उत्कृष्ट वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु का परिग्रह किया जाय वहाँ दुखकर होने के कारण अर्थ का प्रतिपक्षी अनर्थ ही होगा। परन्तु जहाँ निकृष्ट वस्तु देकर उत्कृष्ट वस्तु का ग्रहण किया जाय-वहाँ उत्कृष्ट सुखकर होने के कारण उपादेय होगा, तो वह अर्थ स्वभाव होगा।[3] इसे ही 'अर्थानर्थस्वभावमित्यादि' कहा है। यथा-जिसने रणस्थली वध का (उत्साह प्रदर्शन) दानकर हिरण्याक्ष का वध करने से सुरारियों की जयलक्ष्मी के साथ यश को प्राप्त किया।[4] यथा-न्यूनपरिवृत्ति का उदा-नेत्रभूत उरग है-वासुकि। यहाँ उत्कृष्ट कौस्तुभ की प्राप्ति निकृष्ट रत्नों के परित्याग से हो रही है अतः निकृष्ट से उत्कृष्ट की परिवृत्ति कही जाएगी।[5] यथा-विशिष्ट परिवृत्ति जिसने उस बलि के विषय में, जो भूतल में (परीत) व्याप्त है तथा यज्ञ से स्वर्ग लोक को जीतना चाहता है। समस्त देवताओं के लिए दिया तो अभय पर तदर्थ ग्रहण किया ह्रस्वत।[6]

तिलक ने इसका भेदोन्मुख लक्षण प्रस्तुत किया तथा तीनों भेदों के उदाहरणों के विशद रूप में प्रस्तुत किया। सम, हीन अथवा अधिक के द्वारा वस्तु का परिवर्त्तन परिवृत्ति है। इनमें हीन के द्वारा अधिक का ग्रहण अर्थस्वभाव ही है। समवस्तु के द्वारा परिवर्त्तन प्रसज्य वृत्तिषेधात्मक अर्थाभाव रूप ही है जबकि अधिक के द्वारा हीनगुण

---

1. यत्रापि च निकृष्टपरिग्रहे रणोत्कृष्टपरित्यागः क्रियते तत्राप्यनर्थस्वभावता उपादेयविपरीतस्योपादानात्। वही, 5/31 पर ल० वृ०
2. यथा हि अधर्मानृतशब्दाभ्यां नोत्तरपदार्थाभावमात्रमभिधीयते। वही
3. यत्रोत्कृष्टेन निकृष्टः परिगृह्यते तत्रोत्कृष्टस्य सुखहेतुत्वेनोपादेयत्वादर्थस्वभावता। वही
4. उरो दत्त्वामरारीणां येन युद्धेष्वगृह्यत।
   हिरण्यायक्षवधाद्येषु यशः साकं जयश्रिया। वही, 5/32
5. नेत्रोरगवलभ्राम्यन्मन्दराद्रिशिरश्च्युतैः।
   रत्नैरापूर्य दुग्धाब्धिं यः समादत्त कौस्तुभम्।। वही, 5/33
6. यो बलौ व्याप्तभूसीम्नि मखेन द्यां जिगीषति।
   अभयं स्वर्गसद्मभ्यो दत्त्वा जग्राह खर्वताम्।। वही, 5/34

का ग्रहण उसका अनर्थस्वभाव है।[1] वामन ने समान अथवा असमान वस्तुओं के परिवर्त्तन को परिवृत्ति कहा है।[2] रुद्रट ने दण्डी की शैली में दो वस्तुओं का एक साथ त्याग ग्रहण और परिवृत्ति है।[3]

कुंतक परिवृत्ति को उपमा से अलग नहीं मानते। इनका कथन है कि एक को देना और दूसरे को लेना इसमें अलङ्कार तो नहीं हुआ, यहाँ दोनों वर्ण्य हैं उनके तर्क का सार अलङ्कार्य व अलङ्कार में भेद स्थापन ही है। परन्तु इस प्रकार की उनकी अनेक स्थापनाएँ बाद के आचार्यों ने स्वीकार नहीं की। मम्मट ने उनके तर्कों के बावजूद इस अलङ्कार का न केवल विवेचन किया बल्कि इसके भेद भी प्रदर्शित किए-समपरिवृत्ति एवं असमपरिवृत्ति। इस अलङ्कार में जो वचन वक्रता है उसमें उपमानोपमेयभाव की अभिव्यक्ति रहती है।

रुय्यक ने परिवृत्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है-एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु को ग्रहण करना ही परिवृत्ति कहलाता है।[4] रुय्यक ने वर्गीकरण के विषय में मम्मट का अनुकरण किया। जयदेव ने रुय्यक का अनुकरण किया है।[5] पंडितराज जगन्नाथ ने परिवृत्ति के चार भेद किए हैं-समपरिवृत्ति एवं विषमपरिवृत्ति। इन दोनों भेदों के भी दो-दो भेद किए हैं- समपरिवृत्ति उत्तम से उत्तम और न्यून ने न्यून। विषमपरिवृत्ति-उत्तम से न्यून एवं न्यून से उत्त दो भेद हैं। इनका कथन है कि जब दूसरे की वस्तु का ग्रहण तथा स्वयं की वस्तु का दान हो तब परिवृत्ति होता है।

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इन्होंने इसे अर्थान्तरवर्तीन्यास माना था। उद्भट ने इस अलङ्कार का थोड़ा विशद विवेचन किया। इन्होंने सम-'न्यूनविशिष्ट' एवं अर्थानर्थ दो विशेषताओं को जोड़ दिया। इनके टीकाकार इंदुराज ने इनकी खुलकर व्याख्या की तथा अर्थानर्थ विशेषण के स्वरूप को स्पष्ट

---

1. यत् समेन हीनेनाधिकेन वा किंचित् परिवर्त्यते सा परिवृत्तिः। तत्र हीनेनाधिकार्थग्रहेऽर्थस्वभावं परिवर्त्तनम्। समेन परिवर्तनं प्रसज्यप्रतिषेधात्मकार्थाभावरूपम्। अधिकेन हीनगुणस्य ग्रहणमधर्मानृतन्यायेनोत्तरपदार्थप्रतिपक्षरूपानार्थस्वभावम्। वही, 5/31 पर वि०
2. समविसादृशाभ्यां परिवर्त्तनं परिवृत्तिः। का० सू० वृ०, 4, 3, 16
3. युगपद्धानादाने अन्योन्यं वस्तुनो क्रियते यत्।
   क्वचिदुपचार्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्ति।। का० अ०, 7/77
4. सम न्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः। अ० सू०, पृ० 191
5. परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः। च० आ०, 5/94

किया। तिलक की व्याख्या संक्षिप्त है परन्तु अलङ्कार और उसके भेदों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है। इनके द्वारा प्रदर्शित तीनों भेद परिवृत्ति के स्वरूप व विस्तार को स्पष्ट करते हैं। मम्मट पर उद्भट का प्रभाव है। परन्तु इन्होंने दो भेद बताए हैं। इनके दोनों भेदों के जगन्नाथ ने दो-दो उपभेद किए।

षष्ठ-वर्ग

अनन्वय

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया। इनका कथन है कि जहाँ यह सिद्ध करने के लिए कि उपमान के समान अन्य वस्तु नहीं है, उपमेय की उसी के साथ उपमानता कही जाती है।[1] इस प्रकार 'असादृश्य विवक्षा' के द्वारा अन्य उपमान का निराकरण किया जाता है। इस अलङ्कार की दो विशेषताएँ है-(1) अन्य सदृश वस्तु या उपमान का निराकरण (2) उपमेय में ही उपमेयता एवं उपमानता का सन्निवेश।

दण्डी ने इसे पृथक अलङ्कार न मानकर उपमा का असाधारणोपमा नामक भेद स्वीकार किया है।[2]

उद्भट ने भामह के लक्षण को यथावत् ग्रहण किया है।[3] इन्होंने भी सदृशेतर व्यावृत्ति को इस अलङ्कार का प्राण कहा। राजानक तिलक के अनुसार एक ही वस्तु यदि एक साथ उपमान व उपमेय के रूप में निबद्ध की जाए तो वह अनन्वय अलङ्कार होता है।[4] इंदुराज ने उद्भट के कथन को स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि एक ही वस्तु विश्व में दूसरी नहीं हो सकती, अन्यथा एक ही वस्तु में सादृश्य वास्तविक दृष्टि से संभव नहीं है। यहाँ यह आशंका की जाती है कि सादृश्य संबंध होने पर उसका एक संबंधी प्राकरणिक उपमेय होगा और दूसरा संबंधी अप्राकरणिक उपमान इस तरह सें उपमान एवं उपमेय जब स्पष्ट है तो किस प्रकार से एक ही वस्तु उपमिति क्रिया में कर्म भी होगी और करण भी। इसी को

1. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्।। का० अ०, 3/45
2. आत्मनैवाभवत् तुल्यमित्यसाधारणोपमा। का० आ०, 2/37
3. का० सा० सं०, 6/17
4. नान्य तत्र......सोऽनन्वयः। वही, 6/7 पर ल० वृ०

स्पष्ट करने के लिए कहा गया है-'असादृश्यविवक्षात्'[1] इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। जैसे तृतीय सदृश व्यावृत्ति होती है उसी प्रकार इसका भी तात्पर्य अन्य सदृश की व्यावृत्ति में ही है।[2] तद्यथा जिसकी वाणी अपनी ही वाणी की तरह निर्मल, क्रिया अपनी ही क्रिया की तरह लोक के लोचन को आकृष्ट करने वाला रूप भी अपने ही रूप की तरह है।[3] प्रस्तुत उदाहरण में वाणी क्रिया एवं रूप इन तीनों के अनुपम होने से लोकोत्तरता प्रतिपादन करने के लिए उसी वस्तु में उपमानोपमेयोभावत्व प्रतिपादित किया गया है। वामन ने उपमान और उपमेय को एक ही पदार्थ मानने को अनन्वय कहा है।[4] मम्मट इसमें एकवाक्यता की शर्त्त भी लगाते हैं।[5] रुय्यक ने मम्मट का अनुकरण किया है।[6] विश्वनाथ ने भी इसी लक्षण को स्वीकार करने के साथ साथ[7] अनन्वय एवं लाटानुप्रास में अन्तर प्रदर्शित करते हुए कहा कि अनन्वय में शब्द की एकता औचित्य के कारण अनुषङ्गिक अर्थात् प्रासङ्गिक या गौण है, परन्तु लाटानुप्रास में तो वही साक्षात् प्रयोजक है। उसके बिना यह हो ही नहीं सकता। आशय यह है कि अनन्वय के लिए एक शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं है किन्तु लाटानुप्रास के लिए एक शब्द का प्रयोग आवश्यक है। अप्पयदीक्षित ने कहा है कि एक पदार्थ स्वयं अपना उपमान नहीं हो सकता फिर भी कविगण इसका प्रयोग करते हैं। इस तरह से उपमेय की अनुपमता सिद्ध कर उपमेय के समान अन्य वस्तु का निराकरण हो जाता है।[8] जगन्नाथ ने रुय्यक मम्मट एवं अप्पदीक्षित की परिभाषाओं का खंडन किया है। इनका कथन है कि दूसरे सदृश का निवारण जिसका फल हो उस वर्णन में आने वाला और एक ही उपमान उपमेयं वाला सादृश्य अनन्वय कहलाता है।[9] अस्तु!

---

1. ननु च सादृश्यसंबंधे सति प्राकरणिकमुपमेयमप्राकरणिकतूपमानमित्युपानोपमानोपमेययोर्लक्षित्वात् कथमेकस्यैवोपमितिक्रियायां कर्मत्वं करणत्वं च संभवतीत्याशङ्क्योक्तम असादृश्यविवक्षात: इति। वही
2. नात्रोपमानोपमेयभावे तात्पर्य किन्तु उपमेयोपमावदुमानान्तर व्यावृत्तावित्यर्थ:। वही
3. यस्यवाणी स्ववाणीव स्वक्रियेव क्रियामला।।
   रूपं स्वमिव रूपं च लोकलोचनलोभनम्।। वही, 6/8
4. एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वय:।। का० सू० वृ०, 4/3/14
5. उपमानोपमेयत्वे एकस्यैकवाक्यगे अनन्वय:।
   उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वय:।। का० प्र०, 10/91
6. एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वय:। अ० स०, पृ० 37-38
7. उमपानोपमेयत्वमेकस्यैवत्वननन्वय:। सा० द०, 10/26
8. उपमानोपमेयत्वे यदेकस्यैव वस्तुन:।
   एकस्यैव वस्तुन उपमानोपमेयत्व वर्णनमनन्वय:।। कु० आ०, 10
9. द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वय:। र० गं०, पृ० 269

आचार्य भामह ने जिन विशेषणों के साथ इस अलङ्कार का निरूपण किया था, अन्त तक उसके स्वरूप में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ। मम्मट आदि ने भी शब्द बदलकर उन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनका निरूपण भामह आदि के लक्षण में किया गया था। केवल एकवाक्यता की बात और जोड़ दी गयी। विश्वनाथ लाटानुप्रास से इसका पार्थक्य सिद्ध करने में सचेष्ट हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका लक्षण नये सिरे से करने का प्रयास किया परन्तु कुल मिलाकर इसमें भी उन्हीं तत्त्वों में समावेश है जिनका उल्लेख आचार्य भामह व उद्भट के लक्षण में था। कुल मिलाकर प्राचीन आचार्यों की स्थापनाएँ उपजीव्य बनी रहीं।

ससन्देह

इस अलङ्कार का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य भामह ने किया। उनके अनुसार उपमेय की स्तुति[1] करने के लिए कभी उपमान के साथ उसकी तद्रूपता और कभी भेद का सन्देह पूर्व वर्णन ससन्देह अलङ्कार कहलाता है। यथा-राजा को देखकर किसी कवि की उक्ति है-क्या यह चंद्र है? नहीं ऐसा नहीं हो सकता, कारण यह कि वह दिन में प्रकाशमान नहीं होता। तब क्या यह कुसुमायुध है-मगर वह भी तो फूल का धनुष लेता है-इसका धनुष तो फूल का है नहीं।[2] दण्डी ने इसे पृथक् अलङ्कार के रूप में वर्णित न कर उपमा के 'संशयोपमा' नामक भेद के रूप में वर्णित किया है।[3] इन्होंने उपमान और उपमेय के बीच संदेहात्मक स्थिति को ससंदेह बताया।

उद्भट ने भामह के परिभाषा को यथावत् ग्रहण किया।[4] केवल उदाहरण स्वरचित कुमारसम्भव से दिया है। टीकाकार इन्दुराज ने इनके वक्तव्य को विशद रूप से प्रकट किया है। किसी भी संदेहजनक कथन के बहाने से जहाँ उपमान से उपमेय का भेद भी बताया जाय, वहाँ ससंदेह अलङ्कार होता है।[5] इस सन्दर्भ में शंका यह की जाती है कि यदि उपमान के साथ पहले अभेद की बात की जाए और फिर यदि उससे

---

1. उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
   ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा।। का० अ०, 3/43
2. किमयं शशी न स दिवा विराजते।
   कुसुमायुधो न धनुरस्य कौसुभम्।। वही, 3/44
3. अनन्वयससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ। का० आ०, 2/358
4. का० सा० सं०, 6/2
5. संदेहोपेतवचनव्याजेनोपमानेन तत्त्वं तद्भावभेदमुपमेयस्याभिधायोत्तरकालं तदा ससंदेहोऽलङ्कारः।
   वही, 6/2 पर ल० वृ०

ही भेद भी बता दिया गया तब तो यह गजस्नान करने के बाद फिर अपने शरीर पर धूल ढाल कर सब बराबर कर लेता है उसी तरह अभेद के बाद यदि पुनः भेद की बात कह दी गई-तब तो फिर ज्यों का त्यों भेद का भेद ही रह गया। इसलिए लक्षण में स्तुत्यै पद का प्रयोग किया गया है।[1] आशय यह है कि उपमेय की संस्तुति के लिए इस प्रकार कथन होता है। राजानक तिलक ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यहाँ स्तुति के निमित्त से उपमान के साथ अभेद बताकर पुनः स्तुति के लिए ही दोनों में भेद का भी कथन किया जाता है।[2] तद्यथा-जिसके हाथ में स्थित शंख के विषय में मूर्ख लोग इस प्रकार आशंका करते हैं कि समस्त दैत्यों के दलन से प्रसूत क्या यह यशोराशि है? पर नहीं, यशोराशि तो प्रसरणशील होती है-यह तो सम्पिण्डित है।[3] हो सकता है भगवान् के नाभि-नलिन को देखकर उस पर बैठने की इच्छा से आया हंस हो-पर नहीं वह होता तो चंचल होता यह तो निष्कम्प है।[4]

आचार्य उद्भट ने सन्देह के एक अन्य रूप की भी उद्भावना की है। जहाँ बुद्धि में अन्य अलङ्कार जनित उद्भावना की है। जहाँ बुद्धि में अन्य अलङ्कार जनित सौंदर्य की प्रतीति के लिए संदेह के अभाव में भी संदेह की उद्भावना की जाए वहाँ भी संदेह नाम का अलङ्कार होता है।[5] जहाँ संदेह की स्थिति नहीं होने पर भी संदेह का उपनिबंध हो और ऐसा होने पर भी उपमान से उपमेय का भेद न कहा जाए, बल्कि संदेह की छाया से अभेद ही कहा जाए और इस प्रकार की उक्ति का फल अन्य अलङ्कार के सौंदर्य की निष्पत्ति हो।[6] राजानक तिलक के अनुसार यह अन्य अलङ्कार उपमा ही होता है।[7] यथा-क्या यह सुमेरु पर्वत पर नीला मेघ है या प्रलयानल का धूम? सूर्य के समान चमकीले गरुड़ पर बैठे हुए जिस श्याम के संबंध में इस प्रकार

---

1. ननूपमानेन सह पूर्वमभेदेऽभिहिते सति पुनर्यदि तस्माद्भेदस्याभिधानं क्रियते एवं सति गजस्नानं प्राप्नोतित्याशंक्योक्तं स्तुत्यै इति। वही
2. यः स्तुतिनिमित्त.......ससन्देहः। वही, 6/2 पर वि०
3. हस्ते किमस्य निःशेषदैत्यहृद्दलनोद्भवः।
   यशः संचय एष स्यात् पिण्डीभावोऽस्य किं कृतः।। वही, 6/3
4. नाभिपद्मस्पृहायातः किं हंसो नैष चंचलः।
   इति यस्याभिमतः शङ्खमशङ्किष्यर्जवो जनः।। वही, 6/4
5. अलङ्कारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीषु बंधनम्।
   असंदेहेपि संदेहरूपं संदेह नाम तत्।। वही, 6/5
6. यत्र सन्देहाभावेऽपि.... सौन्दर्यप्रतिपत्तिः। वही, 6/5 पर ल० वृ०
7. स्तुत्यालङ्कारान्तरस्योपमाख्यस्य शोभाम्। वही, 6/5 पर वि०

आशंका की जाती है।[1] प्रस्तुत उदाहरण में मेरु के ऊपर स्थि रहने वाला कृष्ण मेघ तथा कल्पान्तकालीन वह्नि को आश्रय बनाकर निकलने वाला धूम ये दो उपमान हैं।[2] कृष्णकाय गरुड़ारूढ़ भगवान उपमेय हैं। इन दोनों उपमानों से इस उपमेय की पहले की तरह भेदद्योतक कोई बात नहीं कही गई है। इस प्रकार के कथन का फल उपमालङ्कार का ध्वनन है। वामन प्रत्येक अलङ्कार में उपमामूलकता का आधान करने के लिए कृतसंकल्प है। इनके मत में उपमान और उपमेय का उभय कोटि का संशय 'सन्देह' अलङ्कार होता है।[3] रुद्रट ने इसे संशय के नाम से व्याख्यात किया है। मम्मट का कथन है कि सादृश्यवश जब उपमेय का उपमान रूप में संदेह किया जाय तो वहाँ 'ससन्देह' नामक अलङ्कार होता है।[4] उन्होंने इसके दो भेद-भेदोक्तिसहित और भेदोक्तिरहित स्वीकार किए। भेदोक्ति के भी दो रूप होते हैं निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त। उद्भट ने निश्चयान्त का इसलिए महत्त्व प्रदान नहीं किया कि वहाँ 'निश्चय' व्यंग्य न रहकर वाच्य होता है जो प्रतीयमान होने में है। रुय्यक ने उपमेय की संदिह्यमानता को ही संदेह कहा।[5] तथा इसके तीन प्रकार बताए-शुद्ध, निश्चयगर्भ, निश्चयान्त। इसी भाव को जयदेव ने उपमान एवं उपमेय के अनिर्णय के रूप में प्रकट किया।[6] विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुकरण किया है।[7] जगन्नाथ का कथन है कि वह रमणीय ज्ञान ससंदेह है-जहाँ सादृश्यमूलक समकक्ष परस्पर विरोधिनी नाना कोटियाँ विद्यमान हों।[8] मालारूपक में भी नाना कोटियाँ रहती हैं, पर वे समकक्ष नहीं होतीं। इस प्रकार यहाँ सन्देह के साथ-साथ सादृश्यमूलकता का तत्त्व निहित होता है।

आचार्य भामह ने इस अलङ्कार का ससन्देह के नाम से उल्लेख किया तथा दण्डी ने संशयोपमा के नाम से एक उपमा भेद स्वीकार किया। उत्तरवर्ती सारा चिन्तन

---

1. नीलाब्दः किमयं मेरौ धूमोऽथ प्रलयानले।
   इति यः शङ्क्यते श्यामः पक्षीन्द्रेऽर्कत्विषि स्थितः। वही, 6/8
2. मेरोरुपरिवर्ती नीलो बलाहकः कल्पान्तवह्न्याश्रयश्च धूमइत्येतदुभयमुपमानम्। वही, 6/8 पर ल० वृ०
3. उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः। का० सू० वृ०, 4, 3, 11
4. ससन्देहस्तु भेदक्तौ तदनुक्तौ च संशयः। का० प्र०, 10/92
5. विषयस्य संदिह्यमानत्वे सन्देहः। अ० स०, पृ० 50
6. स्यात् स्मृति भ्रान्ति सन्देहैसतदङ्कालङ्कृतित्रयम्। कु० आ०, 24
7. सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
   शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा। सा० द०, 10/36
8. सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया ससन्देहालंकृतिः। र० गं०, पृ० 339

सन्देह और उपमा के इन दो तत्त्वों को लेकर प्रवृत्त होता है। मम्मट ने अपने लक्षण में इन दोनों का समाहार किया। उद्भट भामह के अनुयायी हैं। उनके लक्षण का उन्होंने आदरसहित उल्लेख किया है परन्तु उत्तरवर्ती चिन्तन पर भामह का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः उनके लक्षण में सन्देह एवम् औपम्य इन दोनों ही तत्त्वों के बीज उपलब्ध हो जाते हैं। मम्मट आदि ने इसके स्वरूप के व्यस्थित तथा इसके विस्तार को वर्गीकृत किया। उनका योगदान केवल इतना ही है। इसके स्वतंत्र अलङ्कारत्व की स्थापना तथा स्वरूप का समुचित निर्धारण भामह, उद्भट तथा उनके टीकाकारों ने ही सुतरां कर दिया था। इस दृष्टि से उनकी उपजीव्यता व उत्तमर्णता निर्विवाद है।

संसृष्टि

संसृष्टि का अर्थ है संयोग या मेल। आचार्य भामह ने इस अलङ्कार का विवेचन करते हुए कहा है कि अनेक अलङ्कारों के योग से उसी प्रकार संसृष्टि अलङ्कार बनता है जिस प्रकार अनेक रत्नों को मिलाकर माला बनायी जाती है।[1] दण्डी के अनुसार अनेक अलङ्कारों की एकत्र स्थिति में ही संसृष्टि अलङ्कार होता है।[2] इसके दो भेद हैं-गौण एवं प्रधान। उद्भट का कथन है कि जहाँ दो या दो से अधिक अलङ्कारों की निरपेक्ष रूप से एकत्र स्थिति हो वहाँ संसृष्टि अलङ्कार होता है।[3] इन्होंने इस लक्षण में संसृष्टि का संकर से अन्तर स्पष्ट किया है। उद्भट ने कई नवीन तथ्यों का उल्लेख भी किया। यथा-अलङ्कारों की निरपेक्ष स्थिति, उनकी एकत्र स्थिति तथा दो या दो से अधिक अलङ्कारों की एक ही आश्रय में स्थिति। इंदुराज उद्भट के ही कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं। कि अनेक अथवा दो ही परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का जहाँ एक ही शब्द या अर्थ रूप आधार में उपनिबंध किया जाय वहाँ संसृष्टि अलङ्कार होता है।[4] संकर में अलङ्कारों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होती है।[5]

---

1. वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः।
   रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा।। का० अ०, 3/49
2. नानालङ्कारसंसृष्टिः संसृष्टिरस्तु निगद्यते।
   अङ्गाङ्गिभावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
   इत्यालङ्कारसंसृष्टर्लक्षणीया द्वयी गतिः।। का० आ०, 2/359, 360
3. अलङ्कृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः।
   एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते।। का० सा० सं०, 6/9
4. बहूनामलङ्काराणां पर परस्पर निरपेक्षाणां द्वयोर्वा तथाविध योरेकत्र शब्द एव अर्थ एव वा उपनिबंधे सति संसृष्टिलङ्कारः। वही, 6/9 पर ल० वृ०
5. का० सा० सं०, 6/9 पर ल० वृ०

इन दोनों का विभेदक आधार यही है। तद्यथा–तुम्हारे लिए वह विष्णु भी, मेरी तो यह संभावना है कि धाराहीन सुधावृष्टि की मूर्ति लक्ष्मी को वैसे ही त्याग देंगे जिस प्रकार उषा के प्राप्त होने पर चंद्रमा ज्योत्स्ना का परित्याग कर देता है। अतः हे कमलनयने! किसी अनिर्वचनीय तथा अतिधन्य वर के साथ तारुण्य का भोग करती हुई घर में निवास करो।[1]

इन्दुराज के अनुसार इस उदाहरण में उपमा तथा रूपक अलङ्कारों की संसृष्टि है।[2] राजानक तिलक के अनुसार श्लोकद्वय में निबद्ध इस उदाहरण में 'शशीव' में उपमा, 'आधारां' में विरोध, 'सुधावृष्टिं श्रियम्' में रूपक, 'मन्ये' इस पद का प्रयोग होने के कारण उत्पेक्षा 'कमलेक्षणे' पद में संकर तथा 'वरेण' इत्यादि में सहोक्ति अलङ्कार है।[3] वामन ने संसृष्टि का अर्थ संसर्गबन्ध बताया है। जहाँ एक अलङ्कार का दूसरे अलङ्कार के साथ कार्यकारणभाव सम्बन्ध हो वहाँ संसृष्टि अलङ्कार होता है। इसके दो भेद हैं–उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव।[4] वामन के इस विवेचन पर भामह का प्रभाव देखा जा सकता है। भामह ने उपमारुपक तथा उत्पेक्षावयव अलङ्कारों का स्वतन्त्र रूप में वर्णन किया था। उत्तरवर्ती परम्परा में ये दोनों अलङ्कार लुप्त हो गये। केवल वामन में ये संसृष्टि के भेद के रूप में स्थित है। आगे जाकर न तो वामन की इस स्थापना का आदर हुआ और न ही भामह के ये दोनों अलङ्कार मान्य हुए। ऐसा स्भाविक भी था। संसृष्टि इन्हीं दोनों अलङ्कारों की क्यों हो? परन्तु आचार्य उद्भट ने संकर और संसृष्टि का जो विवेक किया। केवल जयदेव ने संसृष्टि और संकर दोनों का एक ही संज्ञा के कथन किया।[5] मम्मट पर उद्भट का प्रभाव है। रुय्यक ने तिल तण्डुल के दृष्यन्त[6] से उद्भट के अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट किया। परवर्ती आचार्यों ने इन्हें स्वीकार किया। इन्होंने यह भी कहा कि तिल–तण्डुल न्याय से

---

1. त्वत्कृते सोऽपि वैकुण्ठः शशीवोषसि चन्द्रिकाम्।
   अपां धारां सुधावृष्टिं मन्ये त्यजति तां श्रियाम्।। वही, 6/10
   तदुत्तिष्ठातिधन्येन केनापि कमलेक्षणे।
   वरेणसह तारुण्यं निर्विशन्ती गृहे वस।। वही, 6/11
2. अत्र शशी.... इति रूपकम्। वही, 6/10, 11 पर ल० वृ०
3. अत्र शशी वेत्यादि.....सहोक्तिः। वही, वि०
4. अलङ्कारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः। का० सू० वृ०, 4, 3, 30
   तस्याः संसृष्टेर्भेदावुपमा रूपकञ्चोत्प्रेक्षावयवश्चेति। का०सू०वृ०, 4, 3, 31
5. संसृष्टिरिति विज्ञेया नानालङ्कारसंकरः।
   सा तु व्यक्ता तथाव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा।। स०क० 4/88
6. एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः। अ०स०, पृ० 241

संसृष्टि तीन प्रकार की होती है–शब्दालङ्कारसंसृष्टि, अर्थालङ्कारसंसृष्टि तथा उभयालङ्कारसंसृष्टि। विश्वनाथ के संसृष्टि संकर ने पृथक् अलङ्कारत्व की स्थापना की है। कुल मिलाकर इस सन्दर्भ में आचार्य उद्भट ही पूरी परम्परा के लिए उपजीव्य सिद्ध होते हैं। टीकाकारों में तिलक ने उद्भट के इस प्रकरण को पूरी स्पष्टता से प्रस्तुत किया है।

भाविक

कवि के अभिप्राय को भाव कहा जाता है। कवि जब भूत एवं भविष्य के भावों को प्रत्यक्षवत् प्रदर्शित करता है तब भाविक अलङ्कार कहते हैं।

भामह ने भाविक को प्रबन्ध का गुण कहा है अर्थ की चित्रता, उदात्तता, अद्भुतता, कथा की अभिनेयता तथा शब्द की अनाकूलता इसके हेतू हैं। इन्होंने इसका उदाहरण नहीं दिया इसलिए कि यह प्रबन्ध का गुण है, पद का नहीं।[1] भामह का यह विवेचन वस्तुतः लक्षणमात्र न होकर इसके स्वरूप का विशद व्याख्यान है। दण्डी के द्वारा प्रदर्शित भाविक का स्वरूप और भी विस्तृत है तथा कुल मिलाकर भामह से ही अनुप्राणित है। इनका कथन है महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका आदि प्रबंधात्मक कृतियों में कवि के भाव के चमत्कारोत्पादक धर्म विशेष को भाविक अलङ्कार कहते हैं। यह काव्य का सर्वोत्तम अलङ्कार है।[2] दण्डी ने भाविक के लिए कुछ अपेक्षित बातें बताई हैं। आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथाओं में परस्परोपकारिता, व्यर्थ विक्षेपणों का प्रयोग न करना, प्रकृतोपयोगी विषय का वर्णन तथा गूढ़ वस्तु की भी कवि कौशल से स्पष्ट अभिव्यंजना।[3]

उद्भट ने भामह के द्वारा प्रदत्त लक्षण में ही कुछ परिवर्त्तन करके, वस्तुतः उस लक्षण में से कुछ अनावश्यक विशेषणों को हटाकर भाविक का संक्षिप्त लक्षण

---

1. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः।।
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते।। का० अ०, 3/53, 54
2. तद् भाविकमितिप्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कावेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धसंस्थितः।।
परस्परोकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रियास्थानवर्णना।। का० अ०, 3/53
3. व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावयत्तमिदं सर्वमिति तद् भाविकं विदुः।। का० आ०, 2/364, 66

प्रस्तुत किया तथा पूर्वाचार्यों के द्वारा निरूपित विशेषणों से पैदा होने वाले भ्रम की स्थिति को दूर किया। विशेष रूप से गुण शब्द के प्रयोग से इसके स्वरूप को लेकर आचार्यों में भ्रम बना हुआ था। विशेषणों के वैचित्र्य तथा कथा की अभिनेयता से वस्तुतः भामह क्या कहना चाहते थे, यह बात स्पष्ट नहीं थी।

जब भूत एवं भावी विस्मयाविष्ट पदार्थ सहज एवं बोधगम्य शब्दों में प्रत्यक्षवत् वर्णित हों तो वहाँ भाविक अलङ्कार होता है। इनका कथन है कि कवि का जो भाव या अभिप्राय होता है वह कवि की तरह सहृदय को भी प्रत्यक्ष होता है। इंदुराज ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि काव्य में कवि का जो भाव प्रतिबिम्बित हुआ है, उस पर उसी प्रसन्न काव्यात्मक पदावली के कारण द्रुत हृदय वाले सहृदय का हृदय भी ऐसा समझने लगता है जैसे उसने उसी के अभिप्राय को प्रतिबिंबित कर दिया हो। अर्थात् कवि और सहृदय के हृदय का संवाद हो जाता है। इसलिए भूत और भावी अर्थ को सहृदय अपने अभिप्राय के अनुरूप होने से मानो सामने ही देख रहे हों। इन्दुराज ने इस सन्दर्भ में भामह सहित एक अज्ञातनामा आचार्य के मत को भी उद्धृत किया है। इसके निरूपण में टीकाकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार शब्द गत स्वच्छता इसकी हेतु है उसी प्रकार अर्थगत आश्चर्यमयता तथा उदात्तता मूलक अत्यद्भुतता भी कारण होती है। अभिनय आदि के द्वारा श्रृंगार आदि रस का योग होने के कारण इस प्रकार का काव्य चतुवर्गोपायभूत होता है।[1] इस प्रकार कवि एवं श्रोता दोनों के भावों का संमीलन होने से भाविक संज्ञा का व्यवहार किया गया है।[2] भाविक का अर्थ ही है कि जहाँ भाव विद्यमान हो। माधुर्य एवं ओज से प्रौढ़ शब्द एवं अर्थरूपी दर्पण में कवि की रस से उल्लसित आत्मा प्रतिबिम्बित होकर प्रकाशित होती है।[3] स्वच्छ विशेषण के द्वारा प्रसाद गुण का भी निर्देश हो जाता है। प्रौढ़ विशेषण द्वारा शब्दार्थ को अलङ्कारयुक्तता तथा अभिव्यक्ति सामर्थ्य बताना चाहते हैं। संपीतौ का अर्थ है-सम्यक् आस्वादित।

---

1. स्वाभिनीततेत्यभिनयादिद्वारेण श्रृंगारादिरससंवलितत्वं चतुवर्गोपायस्योक्तम्। का० सा० सं०, 6/12 पर ल० वृ०
2. एव विधहेतुनिबंधनं कविश्रोतृभावद्वितयसंमीलनात्मकं भाविकं द्रष्टव्यम्। वही
3. भावोऽस्मिन् विद्यते इति भाविकम्।
   रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे।
   माधुर्यौजोयुतप्रौढ़े प्रतिविन्ध प्रकाशते।।
   संपीतस्वच्छशब्दार्थद्राविताभ्यन्तरस्ततः।
   श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिं चतुर्वर्गे परां ब्रजेत्।। वही

अञ्जन से सूने नेत्रों वाली विविध भूषणों से मनोरम जान पड़ने वाली मनोहर मूर्ति को देखकर प्रीति और पीड़ा आनंद और व्यथा दोनों ही पैदा होती है।[1] प्रस्तुत उदाहरण में नायिका की मूर्ति आभरणों से यद्यपि उचित सजी हुई प्रतीत होती है फिर भी नेत्रों का अञ्जन से रहित होना एक विशेष आभरण का त्याग करना क्लेशकर हो रहा है (दर्शक को),[2] दूसरी ओर वह सहज सौन्दर्य से लदी हुई है।[3] इसलिए इस उदाहरण में यद्यपि अञ्जन रूप भूषण का प्रध्वंस हो चुका है वह अतीत है उसके कारण कवि ने उस सौंदर्य को इस प्रकार उपस्थित कर दिया है।[4] जैसे वह आँखों के सामने ही नाच रहा है। वैसा ही चमत्कार भी सहृदयों को अनुभूत होता है।[5]

तिलक इस सम्बन्ध में जिस पर सबसे अधिक बल देते हैं वह है–वक्ता के आशय को श्रोता में संक्रान्त हो जाना।[6] इन्दुराज के विस्तृत निरूपण का सारांश भी वस्तुतः यही है।

उद्भट ने भामह के कुछ विशेषणों को हटा दिया था, अविशिष्ट विशेषणों को मम्मट ने हटा दिया। उनका कथन है कि कवि अतीत तथा अनागत को प्रत्यक्षवद् दिखाना चाहते हैं, इसी भाव के कारण अलङ्कार को भाविक कहते हैं।[7] रुय्यक विस्तृत वृत्ति में अतिशयोक्ति, काव्यलिंग, रसवद् तथा स्वभावोक्ति से इसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी सिद्ध करने में उद्यत है।

जयदेव ने स्वाभिप्राय कथन, अन्यभावना एवं अन्यापदेश को भाविक बताया है।[8] ये उद्भेद नामक अलङ्कार को भी भाविक के ही अन्तर्गत मानते हैं। शोभाकर मित्र पर इन्दुराज और रुय्यक का प्रभाव है इन्होंने इसके चार प्रकार का वर्णन किया है। देश. काल एवं स्वभाव विप्रकृष्ट के आधार पर इनके चार भेद किए हैं। देशविप्रकृष्ट,

---

1. करोषि पीडां प्रीतिञ्च निरञ्जनविलोचना।
   मूर्त्याऽनया समुद्वीक्ष्य नानाभरणशोभया।। वही, 6/13
2. आभरणोचितमूर्तित्वेऽपि निरञ्जनविलोचनत्वोपलक्षितादाभरणत्यागातपीड़ा। वही
3. सहजसौन्दर्यनिर्भरत्वेन तु आभरणसंपाद्यायाः शोभायाः परिदृश्यमानत्वात् प्रीतिः। वही
4. साम्प्रतिकप्रध्वंसाभावोपलक्षितत्वादभूषण संबन्धो व्यतीतो प्यत्यद्भुतौ योऽसौवपुः प्रकर्षस्तद्वशेन प्रत्यक्ष इव कविनोपनिबद्धः। वही, 6/13 पर ल०वृ०
5. तथैव चासौ सहृदयानां चमत्कारमावहति। वही
6. वक्तुराशयः श्रोतर्यत्रास्तीति। वही, 6/12 पर वि०
7. प्रत्यक्षा इव यद्भावा क्रियन्ते भूतभाविनः।
   तद्भाविकम्। का० प्र०, 10/114
8. अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्तसम्बन्धरहितशब्द-सन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। अ० स०, पृ० 178

कालविप्रकृष्ट तथा स्वभावविप्रकृष्ट।[1] कालान्तर में जाकर विश्वनाथ ने पुनः भामह, उद्भट, मम्मट व रुय्यक के मन्तव्य को ही स्वीकृति प्रदान की। भाविक के सहज विकास की परम्परा में उद्भट व उसके टीकाकार चिन्तन की एक कड़ी के रूप में स्थित है। इन्होंने पूर्वाचार्यों के द्वारा वर्णित भाविक के स्वरूप को व्यवस्थित किया जो भावी आचार्यों के लिए प्रतिमान के रूप में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

काव्यदृष्टान्त

उद्भट के काव्यालङ्कार में यह अलङ्कार सर्वप्रथम विवेचित किया गया है। जब इष्ट वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए अन्य वस्तु के साथ उसका बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव वर्णित हो तथा उसमें औपम्यवाचक पदों का प्रयोग न हो। इन्दुराज ने उद्भट के ही कथन का विशदीकरण किया। अभीप्सित अर्थ का जहाँ स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रदर्शित किया जाय और यथा, इव, वा आदि का प्रयोग न हो, वहाँ काव्यदृष्यन्त होता है।

अप्रस्तुत प्रशंसा में भी प्रतिबिंबात्मक वस्तु का वर्णन किया जाता है, परन्तु वहाँ विवस्थानीय प्राकरणिक अर्थ का ही उद्भव होता है, दृष्यन्त में उसका स्पष्ट कथन होता है।

टीकाकार इन्दुराज ने उद्भट के ही अभिमत को स्पष्ट करते हुए कहा कि अभीप्सित अर्थ का जहाँ स्पष्ट प्रतिबिंब प्रदर्शित किया जाय और यथा, इव, वा आदि का प्रयोग न हो वहाँ काव्यदृष्यन्त होता है। यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्रोध के कारण एक ही चपेटे की चोट से मतवाले हाथियों को गिरा देने वाले सिंह के लिए हरिणों से युद्ध करने में कितनी परेशानी है?[3] इस तरह से यहाँ अप्रस्तुत आदि में इष्ट अर्थ के समान अर्थ प्रदर्शित किया है। क्योंकि यहाँ प्रकरण का मूल राम का मारीचवध है, जिसके लिए प्रतिबिंब रूप में मृग के वध का निश्चय करने वाले सिंह की बात प्रस्तुत की गयी है। ऐसी स्थिति में यहाँ दृष्यन्त हुआ। पर ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इसके निवारण के लिए कारिका में 'विस्पष्ट' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'प्रतिबिंब शब्द से ही 'बिम्ब' की कल्पना की गई है, अतः स्पष्ट रूप से प्राकरणिक

---

1. विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। अ० र०, पृ० 107
2. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
   यथेवादिपदैः शून्यं बुधैदृष्यन्त उच्यते।। का० सा० सं०, 6/16
3. कोपादेकतलब्धातनिपतन्मत्तदन्तिनः।
   हरेर्हरिणयुद्धेषु कियान् व्याक्षेपविस्तरः।। वही, 6/16 पर ल० वृ०

अर्थ का प्रतिबिम्ब प्रदर्शित नहीं हुआ है। जहाँ पर प्राकरणिक अर्थ भी शब्दतः उपात्त हो और फिर उसका प्रतिबिम्बभूत अर्थ भी हो, वहाँ काव्यदृष्यान्त होता है। इसीलिए अलक्ष्य (अप्रस्तुत प्रशंसा) में लक्षण के जाने से होने वाली अतिव्यप्ति नहीं हुई। इस प्रकार की स्थिति उपमा आदि में भी संभव है इसीलिये यथा, इव, वा आदि पदों के अभाव की बात कही गयी है। राजानक तिलक ने अपनी टीका में इस बात को सुतरां स्पष्ट किया है।[1] यथेवादि में आदि की सार्थकता यह है कि उससे साधारण धर्म भी ले लिया जाय।[2] यथा–"और, इस तरह के प्रसंग में बेकार प्रलाप से क्या प्राप्त होगा? जाओ और स्वामी को प्राप्त करो। क्या समुद्र को नहीं पाकर भी कभी महानदियाँ रह सकती हैं।" प्रस्तुत उदाहरण में पार्वती द्वारा इष्ट है–स्वामी की प्राप्ति। इस प्रकार यहाँ दृष्यन्त हुआ। रुद्रट ने इसके दो प्रकार बताये विवक्षित एवं अविवक्षित। जहाँ प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत अर्थ विशेष का पहले उपन्यास कर फिर वैसा ही उसी धर्म से युक्त अन्य विशेष अर्थ की उत्पत्ति होने को काव्यदृष्यान्त बताया।[4] मम्मट ने उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि सबका बिम्ब–प्रतिबिम्बभाव होने को दृष्यान्त बताया है।[5] इन्होंने यह भी कहा कि दृष्यन्त साधर्म्य से भी हो सकता है और वैधर्म्य से भी। रुय्यक, जयदेव[6] और विश्वनाथ[7] के विवेचन पर मम्मट का ही प्रभाव है।[8] अप्पयदीक्षित ने चन्द्रलोक के आधार पर लक्षण दिया है तथा उसकी व्याख्या वृत्ति में की है।[9] पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा से दृष्यान्त का अन्तर

1. विस्पष्टपदेना प्रस्तुतप्रशंसायाः यथेवादिपदैः शून्यमित्युपमायाः प्रतिवस्तूपमायाश्च निरासः। वही, 6/16 पर वि०
2. आदिशब्देन साधारणधर्मो गृह्यते। वही
3. किंचात्र बहुनोक्तेन व्रज भर्तारमाप्नुहि।
   उदान्वन्तमनासाद्य महानद्यः किमासते।। वही, 6/17
4. अर्थविशेषः पूर्वं यादृङन्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
   तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्यन्तः।। का० अ० (रू), 8/94
5. दृष्यन्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्। का० प्र०, पृ० 102
6. चेद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्यन्तस्तद्लंकृति। स्यान् मल्लप्रतिमल्लत्वे संग्रामोद्दामहुंकृतिः। च० आ०, 5/56
   दृष्यन्तश्चेद् भवन्मूर्तिस्तन्मृष्य दैवदुर्लिपिः।
   जाता चेत्प्राक् प्रभा भानोस्तर्हि याता विभावरी।। वही, 5/57
7. दृष्यन्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। सा० द०, पृ० 329
8. तस्यापि बिम्ब–प्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्यन्त। अ० स०, पृ० 96
9. यत्र उपमानोपमेयवाक्ययोः भिन्नावेव धर्मौ बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टौ तत्र दृष्यन्तः। कु० आ०, पृ० 57

बताते हुए कहा है कि प्रतिवस्तूपमा में धर्म एक ही रहता है केवल दो शब्दों से अलग-अलग उसका कथन ही होता है। जबकि दृष्यन्त में दो धर्म पृथक्-पृथक् उपमेय और उपमान वाक्य में रहते हैं और उनमें बिंब-प्रतिबिबभाव संवंध रहता है।[1]

इस अलङ्कार को सर्वप्रथम विवेचित करने का श्रेय उद्भट को है। इनके टीकाकार इंदुराज ने इस अलङ्कार की दो विशेषताएँ बताईं (1) बिम्बप्रतिविम्बभाव तथा (2) उपमासूचक पदों का अभाव। तिलक ने अप्रस्तुतप्रशंसा, उपमा तथा प्रतिवस्तूपमा से इसके भेदक आधार को स्पष्ट किया। उत्तरवर्ती परम्परा में लगभग सभी आचार्यों ने 'काव्य' विशेषण को हटाकर दृष्यन्त के नाम से इस अलङ्कार का उल्लेख किया है। उद्भट के समय तक दृष्टान्त न्यायदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द था। भामह ने दृष्यन्त को एक न्यायदोष माना है जो काव्य में भी आपतित हो जाता है। उनसे पार्थक्य दिखाने के लिए ही कदाचित् उद्भट ने इसे 'काव्यदृष्यन्त' नाम दिया। जिसकी आवश्यकता उत्तरवर्ती आचार्यों ने नहीं समझी।

काव्यहेतु

भामह ने काव्यहेतु को अलङ्कार नहीं माना। उनका कथन है कि ऐसी व्यवहारिक उक्तियों में किसी प्रकार की वक्रता निहित नहीं होती। दण्डी ने भामह का खण्डन किया और कहा कि परिस्थिति विशेष में इसे अलङ्कार कहा जा सकता है। शर्त्त केवल यह है कि उक्तियों को युक्तिसंगत होना चाहिए साथ ही साथ उस संगति में चमत्कार का आधान करने के लिए उसमें कविकल्पना प्रसूत वक्रता का समावेश होना चाहिए। इन्होंने न केवल वाणी को उत्तमभूषण स्वीकार किया बल्कि इसके दो रूप भी बताये-कारक और ज्ञापक अथवा उत्पादक और प्रकाशक।

उद्भट ने काव्यहेतु को काव्यलिंग के नाम से वर्णित किया है। जब एक सुनी हुई वस्तु किसी अन्य की स्मृति अथवा अनुभव का कारण बने तो काव्यलिंग अलङ्कार होता है।[2] तार्किकों के एक सम्प्रदाय का यह मानना है कि हेतुव्यापार स्मृति है, कारण को देखकर अनुभूत कार्य की स्मृति होती है। दूसरे सम्प्रदाय का मानना है कि हेतु व्यापार अनुमान है, कारण को देखकर अनुभूत कार्य का अनुमान कर लिया

---

1. प्रकृतवाक्यार्थघटकानाम् उपमानादीनाम साधारण धर्मस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावे दृष्यन्तः। र० गं०, पृ० 451
2. श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंगं तदुच्यते।। का० सा० सं०, 6/14

जाता है। इन दोनों सम्प्रदायों को मान्यता देते हुए उद्भट ने स्मृति तथा अनुभव दोनों का लक्षण में ग्रहण कर लिया है। यथा-पार्वती के इन अंगों की कान्ति, जहाँ आभूषण नहीं पहने जाते थे, कम हो गई। उसे देखकर आभूषणयुक्त अंगों का अनुमान कर लिया जाता है।[1] इन्दुराज ने उद्भट के कथन का विशद विवेचन किया है। जहाँ एक वस्तु सुनी जाकर दूसरी वस्तु का स्मरण या अनुभव कराए वहाँ काव्यलिंग नाम का अलङ्कार होता है। जिस प्रकार तार्किक लोग लोक प्रसिद्ध वस्तु की सिद्धि करने के लिए ऐसे हेतु का, जो पक्ष धर्म है जिसमें अन्वयव्यतिरेक के अनुसरण की क्षमता है, वह स्थिति काव्यीय हेतु से नहीं होती। इस कारण काव्यीय हेतु का विषय सभी लोगों के लिए अत्यन्त सरस तथा हृदयसंवादी होता है।[2] इसी कारण लौकिक हेतु से विलक्षणता स्पष्ट करने के लिए ही काव्यलिंग में 'काव्य' विशेषण दिया गया है।[3] वह लिंग शास्त्रीय नहीं है काव्यीय है तथा काव्य सरस ही होता है। माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन काव्य के गुण हैं। माधुर्य एवं ओज की जो तत्तद रसों की अभिव्यक्ति के अनुरूप तारतमिक स्थिति सम्पन्न हैं, प्रसाद में ही उपयोगिता है।[4] इस प्रकार रसों के अनुरूप तारतमिक भाव से स्थित माधुर्य एवं ओज के द्वारा उपकृत इस प्रसाद गुण, जो रसों की अव्यवहित प्रतीति का हेतु है, से सम्पन्न निर्मल शब्द एवं अर्थ से काव्य का शब्दार्थ रूपी शरीर जब सम्पन्न रहेगा तो काव्य में सरसता ही होगी, नीरसता कथमपि नहीं हो सकती।[5] जिस प्रकार लौकिक अलङ्कारों की अलङ्कारता गुण से युक्त युवति पर ही निखरती है न कि ढलती उम्र में। ठीक उसी प्रकार जिस काव्य में गुण का अभाव होने पर यदि उसमें अलङ्कारों का प्रयोग किया जाय तो उस काव्य की जो कुछ भी विशेषता रह जाती हो वह भी समाप्त हो जाती है। इसी संदर्भ में वामन का कथन है कि गुणयुक्त युवति अलङ्कार धारण करने पर वह अत्यन्त

1. छायेयं तव शेषाङ्गकान्तेः किञ्चिदनुज्वला।
विभूषाघटनादेशान् दर्शयन्ती दुनोति माम्। वही, 6/15
2. यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेनोपनिबध्यमाना वैरस्यमावहन्ति न तथा काव्यहेतुः अतिशयेन सर्वेषां जनानां योऽसौ हृदयसंवादी सरसः पदार्थस्तनिष्ठतया उपनिबध्यमानत्वात्। का० सा० सं०, 6/14 पर ल० वृ०
3. न खलु तच्छास्त्रलिङ्गं किं तर्हि काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणेन प्रतिपाद्यते। वही, 6/14 पर ल० वृ०
4. माधुर्यौजसोस्तु तत्तद्रसाभिव्यक्तयानुगुण्येन तारतम्येनावस्थितयोः प्रसाद एव सोपयोगता। वही
5. एवञ्च तद्रसानुगुण्येन माधुर्यौजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्यांमुपकृते योऽसौ प्रसादात्मा रसानामव्यवधानेन प्रतीतिहेतुर्गुणस्तदुपेतशब्दार्थशरीरत्वेन काव्यस्यावस्थानात्सरसतैव भवति न तु नीरसता। वही

सौन्दर्य को उत्पन्न करती है उसी प्रकार गुणसंस्कृत काव्य भी अलङ्कारों से युक्त होने पर ज्यादा आस्वाद उत्पन्न करता है। अस्तु!

तिलक इतनी विस्तृत चर्चा में नहीं गये परन्तु कवि की प्रतिभा से जन्म होने के कारण विलक्षण प्रकार के हेतु में काव्य हेतु की स्थिति उन्होंने भी स्वीकार की है।[1]

मम्मट ने हेतु के वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में कथन को काव्यलिंग कहा है।[2] रुय्यक[3] तथा विश्वनाथ[4] में भी इसी नाम से मम्मट की सरणि में ही इसके स्वरूप को परिभाषित किया है। अर्वाचीन आचार्यों पर मम्मट का ऋण स्पष्ट है। अस्तु!

उद्भट से पहले ही इस अलङ्कार के स्वरूप को लेकर विवाद था भामह और दण्डी के ग्रन्थ इसका स्पष्ट निदर्शन है। उद्भट ने अत्यन्त औदार्य का परिचय देते हुए भामह के विरुद्ध दण्डी के तर्क को स्वीकार किया। उनके दोनों ही टीकाकारों विशेष रूप से इन्दुराज ने इसकी अलङ्कारता तथा उसमें निहित सौन्दर्य को स्पष्ट किया। मम्मटादि ने इसका नाम बदल दिया तथा प्रकारान्तर से ही इसे परिभाषित भी किया परन्तु मूल भावना वही रही। उद्भट का योगदान इस दृष्टि से भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि उनके बाद फिर इसकी अलङ्कारता को लेकर प्राय: विवाद नहीं है, केवल रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने इसके सौन्दर्य को लेकर प्रश्न खड़ा किया था। उत्तरवर्ती आचार्यों में इसका काव्यलिङ्ग नाम ही लगभग सर्वमान्य हो गया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसका उल्लेख किया है।

---

1. वस्तु किञ्चिद्......... काव्यलिङ्गम। का०सा०सं०, 6/14 पर वि०
2. काव्यलिंग हेतोर्वाक्यपदार्थता। का० प्र०, 114
3. यत्र हेतुः कारणरूपो वाक्यार्थगत्या विशेषद्वारेण वा पदार्थगत्यालिङ्गत्वेन निबद्धयते तत्काव्यलिंगम्। अ० स०, पृ० 181
4. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते। सा० द०, पृ० 347

चतुर्थ अध्याय

प्रकीर्ण विषय-गुण, रस, ध्वनि

भामह आदि के ग्रन्थों में काव्यालङ्कार शब्द एक सम्पूर्ण शास्त्र का वाचक है, जिसमें काव्य समीक्षा के सभी पक्षों पर व्यापक विचार-विमर्श हुआ था। परन्तु आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ के विषय को केवल अलङ्कारों तक सीमित रखा। निश्चय ही इस ग्रन्थ में अलङ्कार जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर अपनी नवीन स्थापनाओं को समायोजित करने का अवसर उन्हें मिला। परन्तु आचार्य प्रतीहारेन्दुराज के समय तक तो काव्यचिन्तन और भी आगे बढ़ गया था। ध्वनिवाद उस समय तक पर्याप्त रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। ऐसे बहुत से आचार्य थे जो इस नवीन सिद्धान्त से सहमत नहीं थे। अपने-अपने प्रस्थान के अनुरूप उन्होंने ध्वनि का विवेचन किया था। आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में ध्वनि विरोध के विविध विकल्पों पर व्यापक विचार किया।[1] ध्वनि की प्रतिष्ठा के साथ ही रस सिद्धान्त भी एक नए स्वरूप में प्रस्तुत हो रहा था। भामह के काव्यालङ्कार में यह एक अलङ्कार मात्र था। वहाँ रसवत् के शीर्षक से इसका विवेचन किया गया।[2] वामन तक पहुँचते इसका समाहार 'कान्ति' नामक अर्थगुण में हो गया।[3] ध्वन्यालोक में यह एक प्रमुख तथा श्रेष्ठ ध्वनिरूप बन गया[4] और फिर क्रमशः उससे भी स्वतंत्र होकर काव्यात्म पद पर क्रमशः प्रतिष्ठित हुआ।[5] आचार्य उद्भट ने इसके प्रपञ्च को चार अलङ्कारों में समाहित किया था। रसध्वनिवाद की प्रतिष्ठा के साथ ही गुणों की भी एक नवीन रूप में

---

1. योऽर्थ सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
   वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ। ध्व० आ०, 1/2
2. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा।
   देवी समागमद्धर्मस्करिण्यतिरोहिता। का० अ०, 3/6
3. दीप्तरसत्वं कान्तिः। का० सू० वृ०, 3/2/15
4. रसश्च प्रधानभूतत्वाद्ध्वन्यात्मभूतः। ध्व० आ०, तृतीय उद्योत, निर्णय सागर संस्करण, पृ० 171
5. वाक्यं रसात्मक काव्यं। सा० द०, 1977, पृ० 19

संकल्पना की गयी। शब्द और अर्थ के ये धर्म जब रस के साथ जुड़े तो 'दशगुणवाद' का स्थान 'त्रिगुणवाद' ने ले लिया और ये चित्र तीन वृत्तियाँ बन गई।[1] आचार्य उद्भट और प्रतीहारेन्दुराज के मध्य इसी प्रकार के विकल्पों पर व्यापक विमर्श हुआ। प्रतीहारेंदुराज के समक्ष ये सभी सिद्धान्त उपस्थित थे तथा उन्होंने गुरुमुख से तथा स्वयं स्वाध्याय के द्वारा उन पर व्यापक चिन्तन किया था। उनका पक्षपात काव्यशास्त्र की दक्षिण भारतीय परम्परा के साथ है परन्तु 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भी ये अपने व्यापक वैदुष्य तथा प्रगल्भ पांडित्य की झलक अवश्य देते हैं। इनकी टीका विस्तृत तथा विशद है। अलङ्कारों की व्याख्या करते हुए भी प्रसंग न होने पर भी इन्होंने ध्वनि से संबंधित अपनी मान्यताओं को प्रकट किया है तथा प्रेयः आदि अलङ्कारों की चर्चा में वे ध्वनि के आनुषंगिक रूप में रस का तथा मध्ये-मध्ये गुणों के संबंध में भी महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं। राजानक तिलक निश्चय ही इस विस्तार में नहीं गये क्योंकि उनकी दृष्टि में यह सब प्रपञ्च यहाँ अप्रासंगिक था। परन्तु प्रेयः, रसवत् आदि के संदर्भ में उन्होंने कुछ प्रश्न अवश्य उठाये हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अभ्युदय के साथ ही जिन विषयों को काव्यशास्त्र में वर्णनीय माना गया है उनमें गुण तथा अलङ्कारों का स्थान महत्त्वपूर्ण था। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में ही दशगुणों का उल्लेख प्राप्त हो जाता है परन्तु भरत और भामह के आचार्यों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जो गुण और अलङ्कार में भेदवाद को मानने का पक्षधर नहीं था। स्वयं भामह ने द्वितीय परिच्छेद की प्रथम तीन कारिकाओं में माधुर्य, प्रसाद और ओज का संक्षिप्त विवेचन किया है परन्तु वहाँ भी उनके लिए गुण शब्द का प्रयोग नहीं है। आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश में यह उल्लेख है कि उद्भट के अनुयायी इस भेद को भेड़चाल ही कहा करते थे। अन्यथा इन दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। आखिर इन दोनों का ही उद्देश्य काव्यचारुता की वृद्धि करना है। परन्तु यदि इनमें सर्वथा भेद न हो तो फिर इन दोनों के पृथक्-पृथक् नामकरण का औचित्य ही क्या है। इसीलिए कुछ आचार्य काव्य में इनकी समवाय अथवा संयोग रूप में स्थिति के आधार पर इन्हें भिन्न माना करते थे। गुण काव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। जबकि अलङ्कार संयोग सम्बन्ध से काव्य के शोभाकारक धर्म बनते हैं। आचार्य वामन ने इनमें परस्पर भेद एक अन्य दृष्टि से प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार गुण काव्यशोभा को उत्पन्न करते हैं। जबकि अलङ्कार काव्यशोभा

1. माधुर्यौज:प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश। का० प्र०, 8/88

को बढ़ाते हैं। इस प्रकार गुण काव्यशोभा के आधायक तथा अलङ्कार उसके उत्कर्षक सिद्ध होते हैं। गुण और अलङ्कार की भेद व्यवस्था उद्भट ने की थी। जिसके प्रमाण निम्नलिखित उद्धरण हैं-

अलङ्कारविभागं करिष्यमाणस्तदुपयोगितया उद्भटादिमते नोक्तमेव गुणालङ्कारभेदमनुवदति। चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलङ्काराणां चाश्रयभेदात् भेदव्यपदेशः संघटनाश्रया गुणाः। शब्दार्थाश्रयास्त्वलङ्काराः।

(प्रतापरुद्रयशो, भूषण, दलापणाख्याटीका पृ० 337)

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः।

अ० स०, पृ० 9

एवं च समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या हारादय, इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः। ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डुरिका प्रवाहेर्णवैषां भेदः।

का० प्र०, उल्लास 8

इन उद्धरणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उद्भट ने गुण और अलङ्कार का भेद आश्रयमूलक माना है। गुणों को वे संघटना के आश्रित मानते हैं और अलङ्कारों को शब्दार्थ के आश्रित मानते हैं। इसे विषयमात्र का भेद भी कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उद्भट ने गुण और अलङ्कारों का वह भेद स्वीकार नहीं किया जो अलङ्कार्यवादी आचार्यों के अनुसार क्रमशः समवायवृत्ति और संयोगवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। उद्भट ऐसा नहीं मानते कि गुण तो शौर्यादि की भाँति समवाय-वृत्ति से (नित्य सम्बन्ध से) रहते हैं और अलङ्कार हारादि की तरह संयोगवृत्ति से (अनित्य सम्बन्ध से) रहते हैं। उद्भट के अनुसार ओज-प्रभृति इस गुण और उपमा आदि अलङ्कार दोनों ही समवाय वृत्ति से काव्य के भीतर रहते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि गुणों का आश्रय किंवा विषय संघटना है और अलङ्कारों का आश्रय किंवा विषय शब्दार्थ है।

आचार्य उद्भट ने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में गुणों के सम्बन्ध में कोई टिप्पणी नहीं की। संभव है कि भामह-विवरण में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए होंगे परन्तु उनके टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज इस सम्बन्ध में वामन के अनुयायी हैं। इस संदर्भ में उन्होंने उद्भट के नाम से प्रसिद्ध अभेदवाद का अनुकरण नहीं किया।

इन्दुराज का यह कथन यहाँ महत्त्वपूर्ण है कि गुण रहित काव्य तो अकाव्य ही होता है परन्तु अलङ्कारों के न होने पर काव्यत्व की हानि नहीं होगी।[1] इन्दुराज इस संबंध में आचार्य वामन को उद्धृत करते हैं तथा अमरुशतक के एक पद्य को उन्होंने उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है कि किस प्रकार गुण काव्य में अलङ्कारों के बिना भी रह सकते हैं। स्पष्ट रूप से माधुर्य, ओज और प्रसाद का उल्लेख उन्होंने अपनी टीका के अंतिम पृष्ठों में किया।[2] इन तीनों में से भी प्रसाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि प्रसाद भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक उपयोगी है।[3] आचार्य मम्मट ने भी प्रसाद के सम्बन्ध में यह उल्लेख किया है कि इस प्रकार की रचना में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जो सुनते ही अपने अर्थ को प्रकट कर देते हैं। निश्चय ही यह गुण काव्य में सरसता का आधायक है।[4] माधुर्य तथा ओज के साथ तारतम्य से अवस्थित जो प्रसाद नामक गुण है वही रसाभिव्यक्ति का साधन होता है।[5] और सरसता काव्यत्व का प्राण है।[6] काव्य इस रसरूप प्राणत्व कके रहने पर ही अपने अस्तित्व को प्राप्त करता है।[7] परन्तु चतुर्थ वर्ग में जहाँ रसवत् आदि अलङ्कारों पर टीका करते हुए आचार्य इन्दुराज रसों को काव्य का अलङ्कार कहते हैं।[8] वहाँ अलङ्कार शब्द का अर्थ सौन्दर्य का साधन न होकर सौन्दर्य रूप ही कहा जाना चाहिए।[9] वस्तुतः अलङ्कार संज्ञा ने उस समय काव्य चिन्तन को इतना

---

1. गुणरहितमहिकाव्यमकाव्यमेव भवति न त्वलङ्काररहितम्। का० सा० सं०, वर्ग 6, पृ० 412 प्रयाग संस्करण।
2. गुणाः काव्यस्य माधुर्यौजः प्रसादलक्षणाः। वही, 410
3. तदेतेषां त्रयाणां गुणानां मध्यात्प्रसादस्य प्राधान्यम्। वही
4. प्रसादस्त्वव्यवधानेन रसाभिव्यक्त्यनुगुणता। वही
5. रसाभिव्यक्तिश्च यथायोगं माधुर्यौजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्यामुपवृंहि तो योऽसौ प्रसादात्मा गुणस्तेन क्रियते। वही, पृ० 414
6. रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
   कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।। वही, पृ० 415
   गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्सरमेवकाव्यम्। वही
7. यथाहि आत्माधिष्ठितं शरीरं जीवतीति व्यपदिश्यते तथा रसाधिष्ठितस्य काव्यस्य जीवद्रूपतया व्यपदेशः क्रियते तस्माद्रसानां काव्यशरीर भूतशब्दार्थविषयतयात्मत्वेनावस्थानं नत्वलङ्कारतया। वही, पृ० 414
8. रसाः खलु तस्यालङ्काराः। वही, पृ० 355
9. यत्तु रसादीनां पूर्वमलङ्कारत्वमुक्तम, तदेवं विधभेदाविवक्षया। वही, पृ० 415

अधिक प्रभावित किया था कि उसके परिवेश में काव्य के सभी तत्त्व इसमें अंतर्भूत हो जाते थे।[1]

रस के संबंध में एक संकेत इन्दुराज की टीका में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये रसादि को व्यंग्य कहते हैं।[2] परन्तु उस समय स्थिति फिर वही हो जाती है जब वे इस व्यञ्जकत्व को पर्यायोक्त अलङ्कार में अन्तर्भूत मान लेते हैं।[3] पर्यायोक्त शब्द का अर्थ है कि जब बात को प्रकारान्तर से कहा जाता है यही प्रतीयमानता है। कुछ आचार्य सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाले प्रधानभूत तथाम भिधा व्यापार के द्वारा अगम्य इस प्रतीयमान अर्थ को काव्य का प्राण मानते हैं तथा उसे ध्वनि के नाम से प्रकट करते हैं। इन्दुराज का कथन है कि उस तत्त्व का इन्हीं अलङ्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है।[4]

ध्वनिरूप यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का कहा गया है–वस्तुरूप, अलङ्काररूप तथा रसरूप। वस्तु और अलङ्कार विषयक व्यंजकत्व शब्द के आश्रित होने पर विवक्षित तथा अर्थ के आश्रित होने पर विवक्षित और अविवक्षित दोनों प्रकार का होता है। इस प्रकार विवक्षित वाच्य चार प्रकार का तथा अविवक्षित वाच्य दो प्रकार का हुआ। इनमें से चार प्रकार का विवक्षित वाच्य स्वतः सम्भवी तथा कल्पनाप्रसूत के भेद से दो-दो प्रकार का होकर कुल आठ प्रकार का हुआ। इनमें अविवक्षित वाच्य के दो भेद मिलाकर दस भेद निष्पन्न होते हैं जो पद अथवा वाक्य में स्थिति के आधार पर दो-दो प्रकार के होकर कुल बीस भेद निष्पन्न हुए। इस व्यंजकता के विषय रसादि होते हैं। जहाँ भी कहीं वस्तुमात्र की प्रतीति हो वहाँ पर्यायोक्त की स्थिति समझनी चाहिए। तद्यथा-चक्राभिघात आदि पद्य[5] में राहु की पत्नियों का रतिकार्य केवल चुम्बन मात्र तक अवशिष्ट रह गया। इस अर्थ का बोध तभी हो पाता है जब राहु के शिरच्छेदन की कथारूप वस्तु का बोध हो जाय, इसलिए यह वस्तु ध्वनि है। इसका अवगम पर्यायोक्त अलङ्कार के द्वारा होता है।

---

1. एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात्। वही, पृ० 418
2. तद्विशिष्टशक्तिं व्यञ्जकभूतां रसादींश्च व्यङ्ग्य भूतानास्पदीकरोति। वही, पृ० 432
3. एवमेतद्व्यञ्जकत्वं पर्यायोक्तादिष्वन्तर्भावितम्। वही
4. ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाहलादिनः प्रधानभूतस्यस्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीययानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतुः काव्यजीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः स कस्मादिह नोपदिष्टः उच्यते। एष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात। वही, वर्ग 6 पृ० 418
5. चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवंध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्।। वही, पृ० 419

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी की ओर से एक और प्रश्न उपस्थित किया गया है। पर्यायोक्त शब्द का अर्थ है प्रकारान्तर से अभिहित प्रतीयमानवस्तु। वह प्रतीयमान यहाँ प्रधान है इसलिए इसे अलङ्कार्य कहना चाहिए अलंकार नहीं। परन्तु लोक में अलङ्कार्य भी कभी-कभी अलङ्कार हो जाता है। तद्यथा स्वामी भी कभी-कभी भृत्य के अलङ्कारक हो जाते हैं। इसी प्रकार उत्तररामचरित के पद्य स्निग्ध श्यामल कान्ति-आदि पद्य[1] में रामादि शब्दों के बल से राज्यभ्रंश, वनवास, सीताहरण, पितृमरण आदि अनेक वस्तु तत्त्वों का बोध होता है। इसलिए यह वस्तुरूप भी इसी प्रकार पर्यायोक्त में ही अन्तर्भूत हो जाएगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वस्तुमात्र की जहाँ प्रतीति हो वहाँ पर्यायोक्त की स्थिति समझनी चाहिए।[2] न कि ध्वनि नाम का अन्य नवीन तत्त्व।

लावण्यकान्ति आदि पद्य[3] में अलङ्कार ध्वनि कही जाती है। परन्तु इस प्रकार के स्थलों में वस्तुतः 'रूपक' का ही साम्राज्य है क्योंकि वस्तुतः कवि की विवक्षा मुख पर चन्द्र का आरोप करना ही है। अथवा क्योंकि यहाँ रूपक को ही प्रकारान्तर से कहा गया है इसलिए पर्यायोक्त का लक्षण ही यहाँ घटित होता है।[4]

सुवर्णपुष्पां इत्यादि पद्य में[5] लक्षणा के द्वारा सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी से सादृश्य सम्बन्ध का आश्रय लेकर बहुत लाभ लेना रूप अर्थ की प्राप्ति होती है इसलिए यहाँ निदर्शना अलङ्कार मानना होगा। निदर्शना अलङ्कार में वाच्यार्थ अपने आप में आपाततः बाधित होता है तथा उपमानोपमेयभाव गर्भस्थ होता है।[6] आचार्य वामन ने ऐसे स्थलों

---

1. स्निग्धश्यामलकान्तलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानंदकेकाः कलाः कामं सन्तु दृढं कठोरयो रामोऽस्मि सर्वं सहे वैदेहि तु कथं भविष्यति हहाहा देवि धीरा भव।। वही, पृ० 420
2. एवमन्यत्रापि वस्तुमात्रे प्रतीयमाने पर्यायोक्तता वाच्या वस्तुमात्रे प्रतीयमाने तदभिव्यक्ति हेतुः काव्यधर्मोध्वनिर्नामिमर्थान्तरम्। वही, वर्ग 6, पृ० 42
3. लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः।। वही
4. न च यस्यालङ्कारस्य प्रतीयमानरूपता तस्येहालङ्कारत्वं केनचिन्निवारितमिति प्रतीयमानरूपतया रूपकाख्योऽलङ्कारो भविष्यति। अथवा पर्यायोक्तया रूपकस्यात्रावसितत्वात् पर्यायोक्तमलङ्कारः। वही, पृ० 422
5. सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानातिसेवितुम्।। वही
6. गर्भीकृतोपमानोपमेयभावा असंभवद्वाच्यार्था निदर्शना द्रष्टव्या। वही, वर्ग 6, पृ० 423

पर वक्रोक्ति अलङ्कार की कल्पना की।[1] इसी प्रकार सर्वैकशरणं आदि पद्य में श्लेष अलङ्कार है।[2] अलङ्कार ध्वनि के अन्य स्थलों में भी ऐसे ही किसी न किसी अलङ्कार का अनुसंधान कर लिया जाना चाहिए।[3]

सर्वैकशरण इत्यादि पद्य में श्लेष अलङ्कार मानना चाहिए। इस मान्यता के पीछे यह सिद्धान्त भी है कि जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलङ्कार भी हों वहाँ वस्तुतः श्लेष की ही प्रधानता माननी चाहिए। यहाँ सर्वैकशरण तथा अक्षय इत्यादि शब्द अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें कहीं एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों या पदों का उच्चारण है। और कहीं एकप्रयत्नोच्चार्य सदृश वर्णों का। इसलिए यहाँ विरोधाभास की झलकमात्र तथा श्लेष की प्रतिष्ठा माननी चाहिए। इसी दिशा में अलङ्कारगत अभिव्यंजना का उपर्युक्त अलङ्कारों में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए।

रस, भाव तथा रसाभाव आदि की प्रतीयमानता के आधार पर जो ध्वनिवादी रसध्वनि नामक एक अन्य ध्वनि भेद कल्पित करते हैं आचार्य उद्भट ने उस सारे प्रपंच का समाहार रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि तथा समाहित नामक अलङ्कारों में कर दिया। जिनका निरूपण चतुर्थ वर्ग में किया जा चुका है। जहाँ रस आदि अप्रधान हो वहाँ उदात्त नामक अलङ्कार होता है। इसलिए यह रसध्वनि भी कोई नवीन वस्तु भी नहीं है।

व्यंग्य रस आदि की अति शीघ्र प्रतीति होने पर असंलक्ष्यक्रमरूपता ही समझनी चाहिए। ऐसे स्थलों में जहाँ वाच्यार्थ अविवक्षित है वहाँ पहले पर्यायोक्त माना गया है परन्तु केवल आरंभिक दृष्टि है। गहनता से विचार करने पर वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जा सकती है। जहाँ वाच्यगत विवक्षापूर्वक अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहाँ पर्यायोक्त तथा जहाँ वाच्य अविवक्षित है और उससे अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जानी चाहिए। इस प्रकार पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशंसा में ही विवक्षित एवं अविवक्षित वाच्य का समस्त प्रपंच समाहित किया जा सकता है।

ध्वनि निरूपक ग्रंथों में प्रतिपादित वस्तु एवं अलङ्कार को विषय बनाने वाले वाच्य विवक्षित भी हो सकते हैं और अविवक्षित भी। जहाँ शब्दशक्ति मूल रस विषय

1. भट्टवामनेन चात्र वक्रोक्तिव्यवहारः प्रवर्तितः। यदवोचत् सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। वही
2. सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्।।
इत्यादावपि श्लेषः। वही
3. एवमलङ्कारान्तरेषु अपि प्रतीयमानेषु वाच्यम्। वही, पृ० 424

होता है वहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित ही होता है। इस प्रकार कुल निष्पन्न छः भेदों में से चार विवक्षित वाच्य वाले तथा दो अविवक्षित वाच्य वाले होते हैं। विवक्षित वाच्य वाले चार भेद स्वतः सम्भवी तथा कविप्रतिभा निर्मित होने के कारण द्विगुण होकर आठ बन जाते हैं इस प्रकार ध्वनि के दस भेद हुए जो पद अथवा वाक्य में स्थिति के आधार पर बीस प्रकार के निष्पन्न होते हैं।[1] इन्दुराज ने इनमें से एक एक ध्वनि भेद को लेकर उसे अलङ्कारों में अन्तर्भूत किया है। इसलिए स्वतंत्र रूप से ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करना चाहिए, यह इन्दुराज का आशय है।

---

1. विवक्ष्यमविवक्ष्यं च वस्त्वलङ्कारगोचरे।
वाच्यं ध्वनौ विवक्ष्यं तु शब्दशक्तिरसास्पदे।।
भेदषट्के चतुर्द्धा यद्वाच्यमुक्तं विवक्षितम्।
स्वतः संभवि वा तत्स्यादयवा प्रौढिनिर्मितम्।।
दशभेदा ध्वनेरेते विंशतिः पदवाक्यतः।
प्रधानवद् गुणीभूते व्यङ्ग्ये प्रायेण ते तथा। वही, पृ० 431

पंचम अध्याय

उपसंहार

कश्मीर प्रदेश का साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में महनीय योगदान रहा है। उसके प्रतिनिधि के रूप में आचार्य उद्भट संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में एक अत्यन्त प्रतिष्ठित और प्रामाणिक नाम है। समग्र परम्परा में इनके स्थान को निर्धारित करते हुए संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ये भामह की पीठिका से लेकर मम्मट के शिखर तक पहुँचने का सोपान है। ये अपने युग में इतने प्रतिष्ठित और प्रभावशाली समझे जाते थे कि द्वितीय श्रेणी के काव्यशास्त्री आचार्य इनकी स्थापनाओं को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया करते थे। इनके अनुयायियों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग था जो उनके जीवन काल में तथा उसके उपरान्त भी काव्यरचना तथा आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय रहा। उत्तरवर्ती परम्परा में उनके अनुयायियों को 'औद्भटः' कहकर अनेक स्थलों पर स्मरण किया गया है। वही इनके दोनों उपलब्ध टीकाकार संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में दो विरोधी धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए आचार्य उद्भट तथा उनके टीकाकारों का संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में स्थान निर्धारित करने से साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं।

आचार्य उद्भट का समय निश्चित है। स्थान भी निश्चित है। उन्हें राजा जयापीड़ से प्रतिदिन एक लाख दीनार वेतन के रूप में मिलते थे। राजा की ओर से मिलने वाले इस सम्मान विद्वत्सभाओं में उनकी प्रतिष्ठा तथा उनके राजनैतिक व सामाजिक प्रभाव के साथ-साथ संस्कृत काव्य की रचना तथा समीक्षा के क्षेत्र में उनकी निर्बाध गति का अनुमान किया जा सकता है। आचार्य भरत तथा आचार्य भामह के शास्त्रीय ग्रन्थों पर टीका लिखने के अतिरिक्त उन्होंने 'कुमारसंभव' नाम के काव्य की रचना भी की थी। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' उनकी कीर्त्ति का प्रशस्त स्तम्भ है। अब तक इस ग्रंथ पर दो ही टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं। निश्चय ही और भी अनेक टीकाएँ उद्भट के इस ग्रंथ पर रही होगी, विशेष रूप से यह देखते हुए कि उनके अनुयायियों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। प्रतीहारेन्दुराज कृत लघुवृत्ति तथा राजानक तिलक कृत

'उद्भट विवेक' अथवा 'विवृति' टीकाओं की ही प्राप्ति अबतक संभव हो सकी है। इनमें से प्रथम-टीकाकार इन्दुराज हैं। इनका नाम प्रतीहार, भट्ट तथा श्री विशेषणों के साथ भी प्राप्त होता है। इन्होंने अपने युग के उद्भट आचार्य मुकुलभट्ट से काव्यशास्त्र का अध्ययन किया तथा अपने शिष्य परम्परा में अभिनवगुप्त जैसे आचार्य उत्पन्न किए। इनके वैदुष्य का यही प्रमाण पर्याप्त है कि इन्होंने कश्मीरी आचार्य के ग्रंथ की व्याख्या दक्षिण भारतीय परम्परा के आलोक में की। इनका समय उद्भट से लगभग एक सौ पचास वर्ष के पश्चात् नौ सौ पचास ई० के लगभग निश्चित किया जा सकता है। पुन: एक सौ पचास वर्ष के पश्चात् राजानक तिलक का प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने आचार्य रुय्यक जैसा 'हस्ताक्षर' संस्कृत काव्यशास्त्र को प्रदान किया। मम्मट के साथ इनके संबंधों की चर्चा प्राय: विद्वानों ने की है। यद्यपि रामस्वामि शास्त्री की स्थापनाओं के बावजूद कुद विद्वानों ने उपलब्ध टीका के साथ राजानक तिलक की संबद्धता पर प्रश्न चिह्न लगाए हैं। तथापि जब तक प्रबलतर बाधक प्रमाण न मिल जाए 'विवृति' टीका को तिलक कृत टीका ही स्वीकार कर लेना चाहिए।

अपने उद्भव के प्रारम्भिक युग में काव्यशास्त्र 'अलङ्कारशास्त्र' के नाम से ही जाना जाता था। शास्त्र की संज्ञा अलङ्कार थी, काव्य का सर्वस्व अलङ्कार था तथा काव्य सौन्दर्य को उत्पन्न और प्रकट करने वाले साधन भी अलङ्कार संज्ञा से ही अभिहित किए जाते थे। लक्षणों के योग से निरन्तर नए-नए अलङ्कारों की कल्पना की जा रही थी परन्तु उनके वर्गीकरण के बहुत प्रशस्त प्रयास दिखाई नहीं देते, पुनरपि भामह ने शब्द और अर्थालङ्कार के रूप में विभाजन का एक संकेत भर दिया था परन्तु उन्होंने अनेक वर्गों में बाँटकर अलङ्कारों का विवेचन किया। आचार्य उद्भट ने भी कदाचित भामह के ही अनुकरण पर अलङ्कारों को छ: वर्गों में विभाजित किया। इन्हें इनके ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जाना चाहिए।

प्रथम वर्ग में पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक, तथा प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख है। इनमें से पुनरुक्तवदाभास शब्दार्थोभयमूलक अलङ्कार है, ऐसा राजानक तिलक के विश्लेषण से ज्ञात होता है। आचार्य मम्मट तथा रुय्यक के मतभेद के बावजूद आचार्य विश्वनाथ ने राजानक तिलक की ही बात को स्वीकार किया। इसके प्रवर्तन का श्रेय उद्भट को तथा व्याख्यान की यशोभागिता राजानक तिलक को प्राप्त हुई। छेकानुप्रास, अनुप्रास तथा लाटानुप्रास सब अनुप्रास के ही प्रपंच हैं। लाटानुप्रास की भी स्वतंत्र अलङ्कारता को प्रस्थापित करने का श्रेय उद्भट को जाता है। साहित्यदर्पणकार ने इन्हें अनुप्रास के भेद के रूप में ही वर्णित किया। शब्दालङ्कार बस यही तीन हैं। यमक के विषय में उद्भट

का मौन आश्चर्यजनक है। सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की परम्परा में अन्य कोई आचार्य अलङ्कारों की गणना में 'यमक' को छोड़ने का साहस नहीं कर पाया, भामह भी नहीं, परन्तु आचार्य दण्डी ने इसी प्रकार 'अनुप्रास' को छोड़कर ऐसा ही साहस का काम किया था।

अर्थालङ्कारों में भी रूपक उपमा से पहले वर्णित है। कश्मीरी आचार्य रूपक को उपमा से अधिक महत्त्व देते रहे हैं। परन्तु उपमा की अलङ्कार के रूप में स्वीकृति को लेकर कभी कोई मतभेद नहीं रहा। इस संदर्भ में उद्भट का योगदान यह बनता है कि इन्होंने व्याकरण के आधार पर सर्वप्रथम उपमा के प्रपंच को वर्गीकृत किया तथा उनके दोनों ही टीकाकारों ने बड़ी तन्मयता के साथ उदाहरण प्रत्युदाहरण देते हुए इसे परिपुष्ट किया। यद्यपि ऐसा नहीं है कि उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा इनकी मान्यता को यथावत् स्वीकार ही कर लिया गया हो। परन्तु व्याकरण के आधार पर उपमा के भेद विभाग की संकल्पना पर इनका कुछ उपकार अवश्य है। इस वर्ग में निरूपित अलङ्कारों में दीपक भी एक ऐसा अलङ्कार है जिसके अस्तित्व को लेकर उत्तरवर्ती परम्परा में प्रश्नचिह्न लगाए गए। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ ने तुल्ययोगिता में इसके अंतर्भाव का प्रयास किया। इसके स्वरूप की व्यवस्था तथा भेदविभाग में उद्भट तथा तुल्ययोगिता से उसके पार्थक्य को सिद्ध करने में राजानक तिलक की उपजीव्यता सिद्ध है।

द्वितीय वर्ग में आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति अलङ्कारों का विवेचन है। ये सभी अलङ्कार आचार्य भामह के काव्यालङ्कार में वर्णित में वर्णित हो चुके थे। इनके विवेचन में भी आचार्य उद्भट भामह के अधमर्ण प्रतीत होते हैं। विशेष रूप से अतिशयोक्ति के गुणातिशय के आधार पर विविध विकल्पों की कल्पना का जो संकेत आचार्य भामह ने दिया था। उद्भट ने उसे ही आगे बढ़ाते हुए इसके चार भेद किए।

तृतीय वर्ग में यथासंख्य, उत्प्रेक्षता तथा स्वभावोक्ति इन तीन अलङ्कारों का विवेचन है। भामह के प्रामाण्य से यह ज्ञात होता है कि यथासंख्य और उत्प्रेक्षा को आचार्य मेधावी ने कल्पित किया था। मेधावी ने कदाचित् यथासंख्य का उल्लेख 'संख्यान' के नाम से किया था। यथासंख्य नाम उद्भट ने भामह से लिया। मेधावी के द्वारा कल्पित इन दो अलङ्कारों के साथ स्वभावोक्ति का इस वर्ग में उल्लेख है। यह सौन्दर्य की वह विधा है जो अलङ्कार शून्य होकर भी सौन्दर्य का उपादान बनती है। भामह इसकी अलङ्कारता को लेकर बहुत अधिक आश्वस्त नहीं थे। उद्भट का योगदान केवल इतना ही है कि उन्होंने आचार्यों के विवाद के मध्य इसे स्थायी

स्वीकृति प्रदान की इन्दुराज ने उद्भट के अभिप्राय को सुतरां स्पष्ट किया, तथा राजानक तिलक ने इसके स्वरूप को वैज्ञानिकता प्रदान की।

चतुर्थ वर्ग में प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त तथा श्लिष्ट इन सात अलङ्कारों का निरूपण किया गया है। इनमें से चार प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि तथा समाहित में आचार्य उद्भट ने सारी रस प्रक्रिया को समाहित कर दिया। यह उनकी मौलिकता थी। पर्यायोक्त का उल्लेख इनके मध्य में आचार्य उद्भट ने कदाचित् भामह के प्रामाण्य पर किया। टीकाकार इन्दुराज ने ध्वनि के अधिकतर भेदों को इसी में अन्तर्भूत किया है। लघुवृत्ति टीका में ही यह भी उल्लेख है कि जहाँ रस आदि अप्रधान हों वहाँ 'उदात्त' नाम का अलङ्कार होता है। इस वर्ग में श्लिष्ट अवश्य एक ऐसा अलङ्कार है जो अपनी प्रकृति से भिन्न प्रकार का है।

पंचम वर्ग में सर्वाधिक ग्यारह अलङ्कार निरूपित हैं– अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर और परिवृत्ति। इन्हें भी आचार्य ने भामहकृत काव्यालङ्कार से ही ग्रहण किया। इनमें केवल संकर एक ऐसा अलङ्कार है, जो आचार्य उद्भट की कृति में सर्वप्रथम दिखाई दे रहा है। क्योंकि यह भामह के अतिरिक्त दण्डी में भी दिखाई नहीं देता। विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता व निदर्शना तथा परिवृत्ति के भेदों पर उद्भट ने पुनः नवीन दृष्टि से विचार किया। राजानक तिलक ने जो विरोध के दस भेद गिनाए उनका प्रभाव मम्मट के काव्यप्रकाश पर भी देखा जा सकता है। परन्तु निदर्शना के सम्बन्ध में जो तिलक ने अतिशय के योग की बात कही थी उसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने नहीं माना।

षष्ट वर्ग में छः अलङ्कारों अनन्वय, ससंदेह, संसृष्टि, भाविक, दृष्यन्त और हेतू का निरूपण किया गया है। दृष्यन्त और हेतू को दर्शन की रूढ़ पदावली से बाहर निकालने के लिए उनके साथ 'काव्य' विशेषण का प्रयोग किया गया है। भाविक वही है जिसे भामह ने 'प्रबन्ध विषयक गुण' कहा था। संसृष्टि एकाधिक अलङ्कारों का एक ही पद्य में अवस्थान है। अतएव भामह द्वारा निरूपित उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव भी इसी में समाहित हो जाएँगे। इसीलिए उनका पृथक् रूप से उपादान नहीं किया गया है।

अलङ्कार के साथ ही जुड़ी हुई अन्य संकल्पना गुण की है जिस पर काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक ग्रंथों में व्यापक, विचार प्राप्त होता है। परन्तु काव्यशास्त्री आचार्य अलङ्कारों के साथ इनके विभेद के प्रश्न पर बँटे हुए थे। चिन्तकों का एक बहुत बड़ा

वर्ग इन्हें अलङ्कार संज्ञा के अन्तर्गत ही समाहित मानता था। ऐसा मानने वाले आचार्यों में अधिकतर कश्मीरी परम्परा के थे। आचार्य उद्भट इस पक्ष के प्रबल प्रतिष्ठापक थे। बल्कि वे तो अत्यन्त उग्र भाषा का प्रयोग करते हुए इस भेदवाद को 'गड्डुलिका प्रवाह' ही कह देते हैं।

इस समय तक काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र से स्वतंत्र होकर अपना स्थान बना चुका था। ऐसी स्थिति में नाट्यशास्त्र के जो विषय काव्यशास्त्र के वर्णनीय विषय के रूप में यहाँ आए, उनमें रस का स्थान सर्वोपरि था परन्तु यहाँ अलङ्कार संज्ञा इतनी लोकप्रिय थी कि रस भी एक अलङ्कार के रूप में ही दिखाई देता है। भामह में यह रसवत् अलङ्कार था। आचार्य उद्भट केवल एक अलङ्कार में रस के विस्तृत प्रपंच को समाहित नहीं कर सके। प्रेयः रसवत्, ऊर्जस्वि और समाहित के अतिरिक्त रसादि के कुछ विषयों को उन्होंने उदात्त में भी अंतर्भूत किया है। टीकाकार इन्दुराज की रस को लेकर की गयी कुछ टिप्पणियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, जबकि वे इसे काव्य का 'प्राणतत्त्व' स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने एक ऐसे आचार्य को प्रमाण रूप में भी उद्धृत किया है जो रसादि से अधिष्ठित काव्य को ही जीवित काव्य मानता था।

आचार्य इन्दुराज ध्वनि के विविध प्रभेदों को भी अलङ्कारों के विस्तार में ही समाहित करने में सचेष्ट प्रतीत होते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने 'पर्यायोक्त' अलङ्कार के विस्तार में अनेक ध्वनि भेदों को अन्तर्भूत किया है। जबकि कुछ ध्वनि भेद निदर्शना, रूपक तथा वक्रोक्ति में अंतर्भूत हो जाते हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य का अपर पर्याय 'अलङ्कार' शब्द ही इन आचार्यों की दृष्टि में काव्यात्मक चारुता को अभिव्यक्त करने वाला समर्थतम शब्द है। संक्षेप में यही इस पुस्तक का निर्गलित अर्थ है।

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

संस्कृतग्रन्थ

अलङ्कारकौस्तुभः कविकर्णपूर, संपा०-डॉ० रविशंकर नागर, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1981

अलङ्कारप्रदीपः विश्वेश्वर पण्डित, संपा०-विष्णु प्रसाद भण्डारी, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, काशी, 1923

अलङ्कारप्रस्थानविमर्शः डॉ० लक्ष्मीनारायण सिंह, आचार्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1971

अलंकारशेखरः केशवमिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी 1927

अलङ्कारशास्त्रेतिहासः डॉ० जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1986

अलङ्कारसर्वस्वम् रुय्यक, (जयरथ टीका सहित), संपा० दुर्गाप्रसाद काशीनाथ पाण्डुरंग परब, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1982 (संजीवनी सहित) - संपा०-रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, 1965

काव्यप्रकाशः (बालबोधिनी टीकोपेत), वामनझलकीकरकृत, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1965

काव्यमीमांसा राजशेखर, संपा०-पं० केदारनाथ शर्मा, 'सारस्वत' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1965

काव्यादर्शः दण्डी (प्रकाश संस्कृत हिन्दी व्यख्योपेत) आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 1958

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, मेहरचन्द लक्ष्मण दास, दिल्ली, 1973

काव्यालङ्कारः — भामह, संपा०–डॉ० देवेन्द्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1962

——— पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1981

——— डॉ० रमण कुमार शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, 1994

काव्यालङ्कारः (रुद्रटः) — डॉ० सत्यदेव चौधरी, (अशुंप्रभाख्य हिन्दी व्याख्या सहित) वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली 1995

काव्यालङ्कारकारिका — रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1977

काव्यालङ्कारसारसंग्रहः — उद्भट, संपा०–कर्नल जैकब, जर्नल ऑफ दि रायॅल एशियाटिक सोसायटी, 1987

——— (प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति टीका के साथ) संपा०–मङ्गेश रामकृष्ण तैलङ्ग, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915, 1925

——— (लघुवृत्ति सहित), एन०डी० बनहट्टी, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना. 1925

——— (राजानक तिलक की विवृति सहित) संपा०–के० एस० रामस्वामि शास्त्री, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1931

——— (लघुवृत्ति सहित) संपा०–डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1966

——— (लघुवृत्ति तथा विवृति सहित) संपा०– डॉ० रमण कुमार शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2001

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः — वामन (कामधेनु सहित) श्रीकृष्णसूरि, वाणी विलास मुद्रा यन्त्रालय, 1909

——— (कामधेनु एवं हिन्दी व्याख्या सहित) डॉ० बेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1976

कुवलयानन्दः — अप्पयदीक्षित, संपा०–डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1969

चान्द्रोलोकः जयदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1969

चित्रमीमांसा अप्पयदीक्षित (सुधा संस्कृत एवं भारती हिन्दी व्याख्योपेत), संपा०-डॉ० जगदीश मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1971

ध्वन्यालोकः आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1979

नाट्यशास्त्रम् भरत, पं० बटुकानाथं शर्मा एवं पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं० 2037

वक्रोक्तिजीवितम् कुन्तक, संपा०- श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1977

व्यक्तिविवेकः महिमभट्ट (मधुसूदनीवृत्ति सहित) मधुसूदनशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

रसगङ्गाधरः पण्डितराज जगन्नाथ (चन्द्रिका संस्कृत व्याख्योपेत), संपा०-श्री मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1970

राजतरङ्गिणी कल्हण, संपा०-डॉ० रामतेज शास्त्री, पण्डित पुस्तकालय, काशी, 1960

शृंगारप्रकाशः भोज (3 भाग) कारोनेशन प्रैस, मैसूर

सरस्वतीकण्ठाभरणम् भोज, संपा अनुन्दोराम बरुआ, पब्लिकेशन बोर्ड, असम, 1969

साहित्यदर्पणः विश्वनाथ (विमलाख्यया व्याख्यया विभूषितः), शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, 1977

साहित्यसुधासिन्धुः विश्वनाथ देव, संपा०-डॉ० राम प्रताप, भारतीय विद्या प्रकाशन, 1978

हिन्दी ग्रन्थ

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग रामलाल वर्मा, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1959

अलङ्कारधारणा विकास और विश्लेषण	डॉ० शोभाकान्त मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972
अलङ्कार मीमांसा	डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
———	डॉ० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1970
अलङ्कारशास्त्र का इतिहास	डॉ० कृष्ण कुमार, साहित्य भण्डार, मेरठ
अलङ्कारशास्त्र का समन्वित इतिहास	डॉ० अनिरुद्ध जोशी, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1984
अलङ्कारशास्त्र की परम्परा	डॉ० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा प्रकाशन, 1970
अलङ्कारानुशीलन	डॉ० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1970
अलङ्कारों का ऐतिहासिक विकास	डॉ० राजवंश सहाय हीरा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974
अलङ्कारों का क्रमिक विकास	पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973
आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहासदर्शन	डॉ० जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968
काव्यतत्त्वसमीक्षा	नरेन्द्रनाथ चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1959
काव्याङ्गप्रक्रिया	डॉ० शंकरदेव अवतरे, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1977
भामह और वामन के काव्यसिद्धान्त	डॉ० रमण कुमार शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1997
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	डॉ० नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं० 2013
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1976
भारतीय काव्यसमीक्षा में अलङ्कार सिद्धान्त	डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, मैकमिलन, 1980

भारतीय काव्यसिद्धान्तों का सर्वेक्षण	डॉ० सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन, दिल्ली, 1976
भारतीय साहित्यशास्त्र	गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे, पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई, 1960
भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार	डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
महिमभट्ट	डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1968
विष्णुधर्मोत्तरपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग	रुनझुन बंसल, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1997
सरस्वतीकण्ठाभरण का अलङ्कारानुशीलन	डॉ० केदारनाथ शुक्ल, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1983
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	पी०वी० काणे, अनु०-इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, 1966
	(दो भाग) सुशील कुमार डे, अनु०-श्री मायाराम शर्मा, बिहार ग्रन्थ अकादमी, 1973
संस्कृत शास्त्रों का इतिहास	आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, 1994
संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विकास	ब्रह्मानन्द शर्मा, गवर्नमैण्ट कालेज, अजमेर, 1964

English Books

A study of Alamkaras in Sanskrit Mahakavyas and Khandakavyas	A.B. Sagrera, Bharatiya Vidya Prakashan, 1977
Concept of Poetics : An Indian Approach	Dr. Kalipadagiri, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1975
Contribution of Kashmir to Sanskrit Poetics	K.S. Nagarajan, V.B.S. & Sons, Banglore, 1970
History of Classical Literature	M. Krishnamacharier, Motilal Banarasidass, 1970

Pratiharenduraja's contribution to Sanskrit poetics	Anita Karan, Eastern Book Linkers, Delhi-1988
Principals Literary Criticism	Ed. R.C. Dwivedi, Motilal Banarsidass, 1969
Some Aspects of Literary Criticism is Sanskrit	A. Shankaran, Oriental Book Reprint corporation, Delhi, 1973
Some concept of Alamkarsutra	V. Raghvan, Adyar Library, Adhyar, 1942
Some problems of Sanskrit poetics	S.K. De, Firma K.L.M. Pvt. Ltd. Calcutta, 1959
Studies in Sanskrit Sahityasastra	V.M. Kulkarni, B.L. Institute of Indology, Patna, 1983
The concept of Riti and Guna in Sanskrit poetics	P.C. Lahiri, University of Dacca, 1934

कोश ग्रन्थ

अलङ्कारकोश	डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1986
साहित्यदर्पणकोश	डॉ० रमण कुमार शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1997
संस्कृत सहित्यशास्त्रकोश	राजवंश सहाय हीरा, चतुर्थ संस्करण, चौखम्बा संस्कृत संस्थान जवाहरनगर, दिल्ली, 1995

डॉ. काकोली राय

शिक्षा : एम.ए., एम. फिल., दिल्ली विश्वविद्यालय से संस्कृत में पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की है।

पद : अध्यापिका, संस्कृत विभाग, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

BOOK
EASTERN EBL LINKERS

Eastern Book Linkers

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar, Delhi-110007
Ph.: 30919869, 23850287, Email-ebl@vsnl.net

ISBN 81-7854-081-9
9 788178 540818